अपने समय का आईना



सुभाष सेतिया

कल्याणी शिक्षा परिषद्

3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 (भारत)

फोन : (011) 3270715 • 3282733

अपने समय का आईना

सुभाष सेतिया

ISBN : 81-88457-03-5

मूल्य : दो सौ रुपये

प्रकाशक : **कल्याणी शिक्षा परिषद्**
3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002 (भारत)

संस्करण : प्रथम, 2002

कलापक्ष : चेतनदास

शब्द-संयोजक : कल्याणी कम्प्यूटर सर्विसेज़
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

मुद्रक : अजीत प्रिंटर्स
मौजपुर, दिल्ली--110053

APNE SAMAY KA AAINA (Social-Talk)
by SUBHASH SATIA Price : Rs. 200.00

Published By : KALYANI SHIKSHA PARISHAD
3320-21, Jatwara, Daryaganj,
New Delhi - 110002 (INDIA)
Tel. : (011) 3270715, 3282733

ज्योति
मयूर
और
कोकिल
के नाम

यह पुस्तक

ज्ञान और अनुभव बांटने से बढ़ता है। शायद यही सच्चाई हर संवेदनशील और चिंतनशील व्यक्ति को अपने को अभिव्यक्त करने को प्रेरित करती है। कवि, लेखक या कलाकार जो कुछ अपने आसपास देखता, सुनता, पढ़ता व महसूस करता है, उसे ही अपनी कल्पना, चिंतन और शैली के रंग-रूप से सजाकर प्रस्तुत करता है। कवि, लेखक या कलाकार की यही प्रस्तुति साहित्य, कला, संगीत तथा अन्य कलारूपों में अस्तित्व में आती है।

लेखक या कलाकार अतीत के सागर में गोते लगाए अथवा सुदूर भविष्य की कपोल कल्पनाओं के सहारे विविध चित्र खींचे, उसकी प्रेरणा और अनुभव को सींचता वर्तमान ही है। कालजयी रचनाएं इस तथ्य की साक्षी हैं कि उनके रचनाकारों का मुख्य उपजीव्य उनका अपना काल, समय और वातावरण रहा है। कोई भी व्यक्ति अपने वर्तमान से उदासीन रहकर सृजन कर ही नहीं सकता। वह वर्तमान के प्रश्नों के उत्तर तलाशने के लिए ही अतीत और भविष्य की ओर देखता है। अपने समय को पहचानने की इस कोशिश का ही प्रतिफल यह पुस्तक है।

आज के जटिल संसार में कोई भी चिंतनशील सृजनकर्मी किसी एक क्षेत्र, रुचि अथवा चिंता तक सीमित रहकर संतोष नहीं कर सकता। उसे राजनीति, धर्म, अपराध, हिंसा, सेक्स, युद्ध और प्राकृतिक विपदा जैसे सभी मुद्दे विचलित करते हैं और वह सब पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यही प्रतिक्रिया जब अध्ययन, विश्लेषण, शोध और समाधान की सोच के साथ लेखनीबद्ध होती है तो वह रचना का रूप ले लेती है। समय-समय पर भारतीय मानस को आलोड़ित करने वाली समस्याओं के बारे में अध्ययन, अनुभव तथा चिंतन पर आधारित प्रतिक्रिया ही इस संकलन के लेखों की पूर्वपीठिका है।

एक बात और। व्यवस्थित प्रतिक्रिया बहुधा किसी दृष्टिकोण, पूर्वधारणा या दुराग्रह पर आधारित होती है। हर बौद्धिक प्रतिक्रिया के लिए कोई न कोई निकष या कसौटी होना जरूरी है। निस्संदेह हम किसी प्रचलित विचारधारा, वाद अथवा मत से प्रभावित या उसके पक्षधर हो सकते हैं। यह भी संभव है कि समय के साथ हमारी विचारधारा बदल जाए। फिर भी किसी एक समय पर किसी वाद या विचारधारा के प्रति झुकाव होना स्वाभाविक है। कोई भी लेखक या कलाकार इस संभावना से बच नहीं सकता। बचने की कोशिश भी नहीं करनी चाहिए। लेखक की रचना में उसकी विचारधारा या दृष्टिकोण नहीं झलकता तो वह अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार नहीं है।

परंतु यह दृष्टिकोण किसी समस्या के निष्कर्ष को भले ही प्रभावित करे, उसका विश्लेषण इससे अछूता रहना चाहिए। यदि आप समाजवाद के पक्षधर हैं और अपनी रचना में समाजवाद की व्याख्या करते हुए उसके केवल सकारात्मक पहलुओं की चर्चा करते हैं और नकारात्मक पक्षों की ओर संकेत नहीं करते तो आप अपने रचनाधर्म से च्युत हो रहे हैं। अच्छे-बुरे पक्षों की तुलना, विवेचन और विश्लेषण की छलनी में छानकर निष्कर्ष में अपनी दृष्टि का छौंक लगा सकते हैं तो आप अच्छे कलाकार और रचनाकार हो सकते हैं।

इस संकलन में आप लेखक को अपनी बात थोपते हुए नहीं पाएंगे। जाहिर है, अपनी कोई बात कहने के लिए ही हर लेख लि‌खा गया है, परंतु लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह तथ्यों और उसके विश्लेषण के बीच से ही उभरता है। तभी वह विश्वसनीय, प्रामाणिक और स्वीकार्य भी हो सकता है। उदाहरण के लिए 'संस्कृति विमर्श' के 'धर्म और सरोकार' लेख में धर्म के अच्छे-बुरे दोनों पक्षों का विवेचन करते हुए धर्म के रचनात्मक सरोकारों को स्वीकार किया गया है, तो 'चमत्कारों की अंधी गलियां' लेख में दोनों पक्षों के बीच से धर्म के नकारात्मक पहलू उभरते दिखाई देते हैं। ये दोनों लेख, अलग-अलग समय पर अलग-अलग परिस्थितियों में लिखे हुए हैं और उनके निष्कर्ष अलग-अलग हैं, परंतु यदि आप लेखक की दृष्टि ढूंढ़ना चाहेंगे तो दोनों में एक ही दृष्टि झलकती दिखाई देगी। यही बात इस पुस्तक के अन्य विमर्शों में संकलित लेखों पर लागू होती है। हां, मेरा यह दावा कितना संतुलित और असंतुलित है, इसका निर्णय पाठक ही करेंगे।

इस पुस्तक में संस्कृति, समाज और जनसंचार माध्यमों से जुड़े विविध पहलुओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इनका रचनाकाल अलग-अलग रहा है। यद्यपि तथ्यों व आंकड़ों को अधुनातन बनाने का प्रयास किया गया है। लेखों में यदि चिंतन की ऊंचाई, विषय की व्यापकता और संवेदना की गहनता का अभाव दिखाई दे तो वह मेरे अनुभव, प्रतिभा और ज्ञान की सीमा है। अर्जित ज्ञान, चिंतन और दृष्टि की ईमानदार अभिव्यक्ति ही मेरी संपत्ति है। इनमें वही मुद्दे उठाए गए हैं जो बीसवीं सदी के अंतिम दशकों और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारतीय जनमानस के लिए प्रश्न पैदा करते रहे हैं। विषय चाहे धर्म हो या जीवन-मृत्यु का संघर्ष, शिक्षा हो अथवा सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक स्मारक और मानचिह्न, नारी की स्थिति हो या फिर हमारी निजी जिंदगी में जोरदार ढंग से झांकते संचार-माध्यम, ये सभी मुद्दे हमारे जीवन को कहीं गहरे जाकर प्रभावित करते हैं और हमारी संवेदना व सोच पर दस्तक देते हैं। अपने ढंग और अंदाज से इन्हीं प्रश्नों का उत्तर तलाशने की कोशिश इन लेखों का प्रयोजन है।

—सुभाष सेतिया

अनुक्रम

संस्कृति विमर्श

समाज विमर्श

संचार विमर्श

संस्कृति विमर्श

धर्म और सरोकार

धर्म मनुष्य की प्राचीनतम अवधारणाओं में से एक है। बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं की चिंता के बाद धर्म ही मनुष्य की प्रमुख प्राथमिकता बनकर उभरा। इसका स्वरूप भले ही हर काल और देश में भिन्न-भिन्न रहा है किंतु ईश्वर, प्रकृति एवं अलौकिक सत्ता के प्रति आभार-अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में आदिम जातियों से लेकर अति विकसित समाजों में भी इसका अस्तित्व विद्यमान रहा है।

धर्म मूलतः व्यक्तिगत अवधारणा है किंतु समय-समय पर इसके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि आर्थिक आयाम भी विकसित होते रहे हैं। हमारे देश में धर्म की सीमाएं अत्यंत व्यापक रही हैं। इतिहास तथा हमारा वाङ्मय इस तथ्य का साक्षी है कि धर्म हमारे समाज, संस्कृति और सामान्य जीवन का अभिन्न अंग बना रहा है।

दुर्भाग्यवश पिछले कुछ समय से, विशेषकर जबसे देश में मंदिर-मस्जिद विवाद ने आंदोलन का रूप लिया है, तबसे धीरे-धीरे धर्म का व्यापक रूप एक तरह से धुंधलके में लुप्त होता जा रहा है और ऐसी धारणा बनाने के सुनियोजित प्रयास हो रहे हैं, धर्म का अर्थ केवल पूजा-प्रार्थना करना है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि निस्संदेह धर्म मूलतः व्यक्ति और ईश्वर, आत्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्म के संबंध का संगठित रूप है, जो आस्था एवं विश्वास पर आधारित है; किंतु धर्म के सरोकार पूजा और भक्ति से कहीं आगे भी हैं। सच तो यह है कि धर्म मानव-जीवन के आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों का अभिन्न अंग है। बौद्धिक स्तर पर धर्म को महत्त्वहीन मानने वाले तथा स्वयं को अधार्मिक या नास्तिक घोषित करने वाले लोग भी धर्म के सामाजिक तथा अन्य पहलुओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं पाते। यदि धर्म के इन लोकोपयोगी तथा जीवन के साथ गहराई से जुड़े पहलुओं की पहचान की जाए और जो शक्ति मंदिर-मस्जिद के नाम पर देश में गृहयुद्ध जैसी स्थिति लाने पर खर्च की जा रही है, वह इन सकारात्मक पहलुओं को मजबूत करने तथा आम लोगों को इनकी पहचान कराने पर लगाई जाए तो हम धर्म के वास्तविक प्रसार के साथ-साथ देश एवं

समूची मानवता की सेवा कर पाएंगे।

धर्म को देवी-देवताओं तथा किसी विशिष्ट पूजा-अर्चना एवं आस्था तक सीमित करने के इन दूषित प्रयासों के फलस्वरूप धर्मरूपी दर्पण पर जो धुंधलका छा रहा है, उसे साफ करने के लिए भारत में पिछली कुछ शताब्दियों में विकसित जीवन-पद्धति का विश्लेषण करते हुए उन तत्वों एवं तथ्यों की पहचान करने की आवश्यकता है जो धर्म के व्यापक सरोकारों को स्पष्ट करते हैं।

मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, चिंतक तथा साधक सभी इस बात पर एकमत हैं कि मनुष्य की सभी इच्छाएं पूरी नहीं हो पातीं, जिसके फलस्वरूप उसमें निराशा, हताशा तथा अपूर्णता एवं असुरक्षा का भाव पैदा होता है। इसके अलावा रोग, शोक, संताप, प्राकृतिक आपदाएं भी हमारे दुखों का कारण हैं। इन दुःखों एवं पीड़ाओं से त्रस्त मानव मन को किसी आश्रय की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कभी-कभी अपराध-बोध से ग्रस्त तथा अहंकार से मदमत्त मानव को आत्मसमर्पण तथा आत्मनिवेदन के लिए किसी शक्ति की तलाश रहती है, जो मनुष्य से इतर हो। पूजा, भक्ति, नमाज, प्रार्थना, भजन, कीर्तन, साधना, ध्यान, हठयोग जैसी पद्धतियों के माध्यम से विरेचन प्रक्रिया होती है, जिससे मनुष्य के दुःख, कष्ट, पीड़ा कुछ क्षीण होती है और उसे सांत्वना मिलती है। दुविधा एवं संशय के क्षणों में किसी अलौकिक शक्ति के स्मरण से वह एक प्रकार का बल ग्रहण करके अपना रास्ता ढूंढ़ लेता है। शायद यही कारण है कि दुःख के चरम क्षणों में लोग सांसारिक जीवन को त्यागकर संन्यास या धर्म-प्रचार का रास्ता अपना लेते हैं। यही कारण है कि हमारे देश में स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं को धर्म का बहुत बड़ा सहारा रहा है। धार्मिक आयोजनों तथा भजन-कीर्तन के माध्यम से वे अपनी दमित कामनाओं की आंशिक पूर्ति कर सकती हैं। यदि सामाजिक दृष्टि से अपमानजनक एवं शोषित जीवन बिताने को अभिशप्त भारतीय विधवाओं को धर्म का आश्रय न होता तो उनकी मानसिक पीड़ा की पराकाष्ठा की कल्पना करना भी कठिन है। यह अलग बात है कि वैधव्य को अभिशाप बनाने में भी धर्म का परोक्ष हाथ है।

दुर्बल एवं हताश मन का संबल बनने के अतिरिक्त धर्म ने और बहुत-से रूपों में भी मनुष्य जीवन को व्यवस्थित करने में योग दिया है।

सभी धर्मों में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना विद्यमान है। यह कल्पना एक तरह के अंकुश का काम करती है और मनुष्य को तामसिक प्रवृत्तियों को छोड़कर राजसिक और सात्त्विक आचरण की ओर प्रेरित करती है। सभी धर्म

चोरी, झूठ, पाखंड, क्रोध, छल-कपट, शोषण, पर-पीड़ा जैसी दुष्प्रवृत्तियों से बचने और सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार, जीवदया, करुणा, प्रेम और शांति जैसी सद्प्रवृत्तियों को अपनाने का संदेश देते हैं। यही नहीं, हमारे यहां तो विशुद्ध भौतिक गतिविधियां आहार, रहन-सहन, पारिवारिक कर्तव्य, स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि भी धर्म द्वारा प्रभावित एवं संचालित होती रही हैं। उदाहरण के लिए, धार्मिक प्रवृत्ति के लोग नशे तथा सामिष भोजन से परहेज करते हैं। सिख धर्म में धूम्रपान की और जैन धर्म में मांसाहार की सख्त मनाही के कारण अधिसंख्य सिख धूम्रपान नहीं करते तथा जैन मतावलंबी निरामिष होते हैं। व्रत-उपहास तथा रोजे की परंपरा से जहां मानसिक शुद्धता होती है, वहीं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह उपयोगी है। पूजा के समय धूप-दीप के विधान से वातावरण को शुद्ध बनाए रखने में सहायता मिलती है। वातावरण की शुद्धता की दृष्टि से वैदिक परंपरा में यज्ञ-हवन बहुत उपयोगी रहे हैं। पूजा, अर्चना, प्रार्थना आदि से पूर्व स्नान करने की अनिवार्यता भी शारीरिक स्वच्छता में बड़ी भूमिका निभाती है।

हमारे सामाजिक जीवन को समृद्ध तथा सार्थक बनाने में धर्म की बहुत बड़ी भूमिका रहती है। सही बात तो यह है कि धर्म हमारे व्यक्तिगत सुख-दुःख को सामूहिक रूप देने तथा उसमें दूसरों को सहभागी बनाने का प्रमुख माध्यम रहा है। संगठित धर्म की शुरुआत ही तब हुई जब आदिकालीन मानव के मन में अपने सुख-दुःख को दूसरों के साथ बांटने की इच्छा जागृत हुई। सभी समुदायों में जन्म से मृत्यु तक के सभी अवसरों की सामूहिक अभिव्यक्ति के लिए किसी न किसी रूप में धार्मिक अनुष्ठानों का सहारा लिया जाता है। विवाह—जो सृष्टि को आगे बढ़ाने तथा कामेच्छा की संयत पूर्ति की नैसर्गिक क्रिया को सामाजिक मान्यता देने का अवसर है—सभी समाजों में धार्मिक अनुष्ठान के साथ संपन्न होता है। जन्म, नामकरण, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु आदि हमारे सभी व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाकलाप धार्मिक अनुष्ठानों के कारण उत्सव अथवा आयोजन का रूप लेते हैं, जिससे एक की खुशी अनेक की खुशी बन जाती है और एक का दुःख अनेकों द्वारा बांट लिया जाता है। उत्सव, समारोह, त्योहार आदि हमारे जीवन की एकरसता को तोड़कर उसमें नई स्फूर्ति, नया उत्साह जगाने का काम करते हैं। एक समाजशास्त्री ने कहा है कि यदि तीज-त्योहार मनाना बंद हो जाए तो मानव जीवन नरक बन जाएगा। ये तीज-त्योहार मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के जीवन को सुखी, निरोग तथा विकासोन्मुखी बनाने के लिए अनिवार्य हैं। सभी देशों में मनाए जाने वाले मुख्य त्योहार यथा दीवाली, ईद,

क्रिसमस, दशहरा, होली तथा अन्य छोटे-मोटे एवं स्थानीय त्योहार किसी न किसी धर्म या धार्मिक मान्यता से जुड़े हुए हैं। गुरुद्वारा, गिरजाघर, मंदिर, मस्जिद आदि मुख्यतया पूजा-अर्चना एवं प्रार्थना के स्थान हैं, किंतु ये सामाजिक मिलन के केंद्र का भी काम करते हैं। अब तो शहरों में सामुदायिक मिलन की कई तरह की संस्थाएं विकसित हो चुकी हैं, किंतु अतीत में धर्मस्थल ही गांव, मुहल्ले तथा समुदाय-विशेष की सामाजिक गतिविधियों का केंद्र हुआ करते थे। धर्मस्थलों की ओर से सामाजिक सुविधाओं की भी व्यवस्था की जाती है। इनमें बारातघर, अनाथालय, प्याऊ तथा अन्य सामाजिक सेवाएं शामिल हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी धार्मिक संस्थाओं का पर्याप्त योगदान रहा है। प्राचीन तथा मध्यकाल में तो धर्म-शिक्षा ही शिक्षा मानी जाती थी। आधुनिक काल में आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, वक्फ बोर्ड, क्रिश्चियन मिशनरी तथा अन्य धार्मिक संगठनों ने शिक्षा-संस्थाएं चलाकर शिक्षा एवं साक्षरता के प्रसार में उपयोगी भूमिका निभाई है। ईसाई मिशनरियों द्वारा हमारे देश में शिक्षा के प्रसार और आधुनिक चेतना फैलाने की दिशा में किए गए प्रयास इस तथ्य के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

सभी धर्मों में दीन-हीन, निर्धनों एवं दु:खी मनुष्यों की सेवा-सहायता को पुण्य माना गया है। आधुनिक युग में समाज कल्याण की जो अवधारणा शासनतंत्र का अनिवार्य अंग बन गई है, उसकी जड़ें धार्मिक विश्वासों में मौजूद हैं। तालाब एवं कुएं खुदवाना, अनाथालय तथा विधवाश्रम खोलना, निर्धन रोगियों की नि:शुल्क चिकित्सा जैसे समाज कल्याण के कार्य धार्मिक भावना से ही किए जाते हैं। विकलांगों तथा अन्य उपेक्षित एवं जरूरतमंद वर्गों की सहायता की अनेक संस्थाएं धार्मिक भाव से किए गए दान से चलती हैं।

महामारी, बाढ़, सूखा, तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त लोगों के लिए राहत कार्य में भी धार्मिक संस्थाएं बढ़-चढ़कर भाग लेती रही हैं। आधुनिक युग में भारत में धर्म को व्यापक सामाजिक गतिविधियों से जोड़ने की प्रेरणा ईसाई मिशनरियों से भी मिली है। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी दयानंद का भी इस दिशा में विशेष योगदान रहा है। आर्यसमाज तथा रामकृष्ण मिशन जैसे संगठनों ने अन्य धार्मिक संगठनों को इस संदर्भ में रास्ता दिखाया।

सामाजिक जीवन के साथ धर्म कितनी गहराई से जुड़ा है, इसका एक प्रमाण यह है कि सामाजिक कुरीतियों से लड़ने का साहस अधिकांशत: धार्मिक लोग ही कर पाए हैं। हालांकि यह भी सच है कि ये सामाजिक कुरीतियां धर्म के आशीर्वाद से ही जीवित रही हैं। दहेज, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, जातिगत भेद-भाव,

अस्पृश्यता जैसी सभी सामाजिक समस्याओं को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से धार्मिक संरक्षण प्राप्त रहा है। अत: इनके उन्मूलन के अभियान भी धार्मिक मंच से चलाए गए। ऐसा लगता है कि इन समस्याओं के समाधान के लिए संवैधानिक, कानूनी तथा सामाजिक स्तर पर किए गए प्रयास अभी तक इसलिए पूरी तरह सफल नहीं हो पाए हैं कि धार्मिक क्षेत्र के लोगों ने सच्चे दिल तथा सक्रियता से इन प्रयासों का समर्थन नहीं किया है। सामाजिक कुरीतियां दूर करने में धर्म की भूमिका का उत्कृष्ट उदाहरण है विभिन्न धर्मों के आचार्यों द्वारा कन्या भ्रूण की हत्या के विरुद्ध चलाया गया अभियान।

धर्म तथा संस्कृति एक-दूसरे के इतना करीब हैं कि इनके बीच सीमारेखा खींच पाना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि दोनों का संबंध हमारे भावजगत से है। अधिकतर धार्मिक प्रतीक किसी समाज अथवा देश के सांस्कृतिक प्रतीक भी बन जाते हैं। भारत के संदर्भ में तो यह तथ्य और भी अधिक प्रभावशाली ढंग से उजागर हुआ है। यहां के प्राचीन धर्म (जो अब हिंदू धर्म के नाम से जाना जाता है) के जो मानचिह्न या आदर्श हैं वही कमोबेश भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व माने जाते हैं। यही कारण है कि तथाकथित हिंदुत्ववादी ताकतें धर्म की आड़ में राजनीति करने में सफल होती दिखाई दे रही हैं। साहित्य, कला, रंगमंच, संगीत, नृत्य—सभी सांस्कृतिक रूपों में धार्मिक प्रतीक तथा मान्यताएं इस गहराई से छाई हुई हैं कि उन्हें अलग करने से संस्कृति ही तिरोहित हो जाएगी। उदाहरण के लिए, रामायण, महाभारत, वेद, पुराण, उपनिषद्, राम-चरितमानस आदि ग्रंथ जहां हमारी संस्कृति एवं साहित्य की उत्कष्ट कृतियां है, वहीं धार्मिक प्रतीक के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। हमारे समूचे लोक रंगमंच, लोक कलाओं तथा अभिनयकला के क्षेत्रों में जो कथानक या रूपक चित्रित किए जाते हैं उनमें से अधिकतर हिंदू धर्म के पौराणिक आख्यानों, कथाओं व मान्यताओं पर आधारित हैं। मूर्तिकला तथा चित्रकला भी काफी हद तक धर्मग्रंथों और धार्मिक मान्यताओं व आख्यानों से प्रेरित रही हैं।

त्योहार, पर्व आदि किसी भी संस्कृति के व्यावहारिक प्रतीक हुआ करते हैं। हमारे देश में अधिकतर पर्व प्रकृति अथवा अन्य पक्षों पर आधारित होते हुए भी धार्मिक मान्यताओं तथा घटनाओं से किसी न किसी प्रकार से जुड़े हुए हैं। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो धर्म के प्रभाव से मुक्त हो। इसी तरह धर्म भी अपने व्यावहारिक रूप में संस्कृति की अभिव्यक्ति है। गीत और संगीत के बिना धर्म का प्रचार-प्रसार संभव ही नहीं है। वह

अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण रूपेण संस्कृति पर अवलंबित है।

धर्म का संबंध हमारे मनोजगत तथा सामाजिक सरोकारों पर ही समाप्त नहीं हो जाता है; वह हमें आसपास के जीवन और पर्यावरण से जोड़ने में भी सहायक है। नदियों की पवित्रता, पर्वतों की महत्ता, पेड़-पौधों के प्रति अतिरिक्त आस्था जैसे विधान मनुष्य को प्रकृति का महत्त्व ही नहीं समझाते, अपितु उसके साथ व्यावहारिक संबंध भी स्थापित करते हैं। हिंदुओं के सनातन विश्वासों में तुलसी, पीपल, कदंब जैसे पेड़ों को देवता तक की मान्यता देना, गंगा को पतितपावनी मानना, हिमालय में कैलाश-मानसरोवर तथा अन्य असंख्य तीर्थस्थलों की स्थापना, नदियों के किनारों पर धार्मिक उत्सवों एवं मेलों का आयोजन, देवी-देवताओं की सवारी के रूप में जीव-जंतुओं की कल्पना आदि सभी उदाहरण धर्म तथा प्रकृति के गहरे रिश्ते की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। यहां तक कि सांप और सिंह जैसे हिंसक एवं संहारक जंतुओं का भी शिव और दुर्गा से संबंध जोड़ा गया है। पशुओं के रूप में विष्णु के अवतारों तक की कल्पना की गई है। तीर्थयात्रा का विधान सभी धर्मों में है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को प्रकृति के संसर्ग में रहने का अवसर देना ही है।

धर्म मनुष्य के वैयक्तिक, भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक सरोकारों को प्रभावित करता हुआ अध्यात्म के माध्यम से उसे समस्त जीव-जगत से जोड़ने का भी उपक्रम करता है। नदी के जल से सूर्य का तर्पण करना, कीटों एवं पक्षियों को दाना डालना अथवा साधना में लीन होकर किसी दिव्य शक्ति से आत्मा का संबंध जोड़ना, वैयक्तिक तथा भौतिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर स्वयं को समूचे ब्रह्मांड का अंश मानने की ही प्रक्रिया है। इसी अनुभूति में से उस सार्वभौम दर्शन की रचना होती है जिसमें मनुष्य अपने या अपने समुदाय की ही नहीं, अपितु समस्त जीव-जगत के कल्याण की कामना करता हुआ 'सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः' कह उठता है। धर्म का सार्वभौम एवं विश्वजनीन स्वरूप इस तथ्य से भी व्यक्त होता है कि कोई भी धर्म भौगोलिक, सामुदायिक तथा राष्ट्रीय सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। सभी धर्मों का फैलाव विश्व के सभी भागों में हो सकता है। फिलिस्तीन से फैला ईसाई धर्म, अरब से फैला इस्लाम और भारत में पनपा बौद्ध धर्म सारे संसार में व्याप्त है।

इतने व्यापक तथा सार्वजनीन तत्त्व को मंदिर, मस्जिद तक सीमित करना और अपने-अपने धर्म पर अभिमान तथा दूसरे धर्मों के प्रति घृणा का भाव जगाना

धर्म के मूलतत्त्व की ही अवहेलना करना है। किसी धार्मिक स्थल की क्षति पर उत्सव मनाना कभी भी धार्मिक कृत्य नहीं हो सकता। अत: आवश्यकता इस बात की है कि धर्म के व्यापक तथा सर्वस्पर्शी स्वरूप को पहचानकर मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के प्रयास किए जाएं। यही सच्चा धर्म है और यही सच्ची मानवता है।

चमत्कारों की अंधी गलियां

हालांकि दुनिया उत्तर-आधुनिक युग में प्रवेश कर रही है, लेकिन हमें अभी तक अपने आसपास हो रही अनेक घटनाओं व क्रियाओं को देखकर कई बार शंका होने लगती है कि क्या हम आधुनिक बन पा रहे हैं? आधुनिकता का प्रमुख लक्षण है वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टिकोण, परंतु तथाकथित शिक्षित और जागरूक लोग भी जब ऐसे काम करते दिखाई देते हैं, जो वैज्ञानिकता से कोसों दूर हों तो शंका होना स्वाभाविक है। कुछ वर्ष पहले देवराला की रूपकंवर को हजारों लोगों की हर्षध्वनि तथा जयजयकार के बीच जीवित जला देना और इस हत्याकांड को धर्म तथा भक्ति के आवरण में महिमामंडित करना व इस घृणित परंपरा के लिए मरने-मारने को तैयार हो जाना, क्या हमें यह सोचने को मजबूर नहीं करता कि हम समय के हिसाब से भले ही इक्कीसवीं सदी में पहुंच गए हैं, पर सोच और आचरण की दृष्टि से हम अभी भी काफी पीछे हैं। हाल के वर्षों में अंधविश्वास के नाम पर यही एक अमानवीय घटना घटी होती तो कुछ संतोष किया जा सकता था। किंतु एक के बाद एक कई ऐसे कांड हुए हैं, जिनके कारण सही समझ वाले लोग भारतीय समाज के भविष्य के प्रति चिंतित हो उठे हैं।

मेरठ जिले में भी इसी तरह का लोमहर्षक और जघन्य कांड हुआ। खरखोदा थाने के अंतर्गत पंछी गांव में एक तांत्रिक के कहने पर सात वर्ष के बालक मनीष की हत्या करके उसे काली देवी की मूर्ति पर अर्पित कर दिया गया। यह काम किसी गैर ने नहीं, बल्कि बालक के मां-बाप ने ही किया। बाली और जगेशरानी ने अपनी संतान को अपने हाथों मारकर इसलिए बलि चढ़ाया कि उन्हें विश्वास दिलाया गया था कि मनीष की बलि पाकर मां दुर्गा प्रसन्न होंगी और उनकी गरीबी तथा दूसरे कष्ट दूर हो जाएंगे। इस घटना के कुछ ही दिन बाद पश्चिमी दिल्ली में एक कालोनी में पुत्र पाने के लिए एक मां ने अपनी बेटी की बलि दे दी। इसी प्रकार केरल के पालाघाट जिले के गांव उनक्करन में एक अध्यापक वेलुयुद्धन ने अपने एकवर्षीय पुत्र कुन्नाकान्न का सिर अपने ही घर में चाकू से काट डाला, क्योंकि तांत्रिकों ने उसे बताया था कि अपने सबसे छोटे

पुत्र की बलि चढ़ाने से वह प्रेतात्माओं के प्रभाव से मुक्त हो जाएगा।

यदि इस प्रकार की घटनाएं व्यक्तिगत विश्वास या आस्था तक सीमित होतीं तो बात दूसरी होती, किंतु स्थिति दुःखद इसलिए है कि ये अमानवीय अपराध धर्म के नाम पर होते हैं। आमतौर पर इन घटनाओं को धार्मिक समर्थन मिलने के कारण इनका जोरदार विरोध नहीं हो पाता तथा इनके विरुद्ध बोलने वालों को नास्तिक और अधार्मिक घोषित करके उनकी बात के महत्त्व को समाप्त कर दिया जाता है। झूठे धर्म का यह जोश और नशा कुछ लोगों को अपनी जान लेने को भी दुष्प्रेरित करता है। किसी अज्ञात, अस्पष्ट और सूक्ष्म कामना की पूर्ति के लिए दूसरों की बलि और तथाकथित मोक्ष की चाह में आत्मदाह की घटनाएं यही बताती हैं कि धर्म के चमत्कारों से मनोकामनाएं पूरी हो सकती है। ये अंधविश्वास अब भी हमारे समाज में कई लोगों के मन में गहराई से जड़ें जमाए हुए हैं।

चमत्कारों के प्रति आकर्षण और आस्था कुछ तो हमारी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता का परिणाम है और कुछ हमारे परंपरागत संस्कारों का। शिक्षा, विज्ञान और तर्कशील व्यक्तियों के प्रयासों से इन अंधविश्वासों की धूल कुछ झड़ती है, परंतु चमत्कारों के बल पर धर्म की दुकान चलाने वालों तथा धर्म के प्रचारकों द्वारा अंधविश्वासों को गरिमामंडित करने के सतत प्रयासों की कृपा से धूल की परत और मोटी होने लगती है। नए-नए योगी, तथाकथित गॉडमैन व अवतारी पुरुष आए दिन प्रकट होकर अध्यात्म और धर्म की आड़ में लोगों को निष्क्रिय आस्था की अफीम खिलाते रहते हैं।

इन दिनों धर्म के ठेकेदारों ने परंपरागत विधियों से ऊपर उठकर प्रचार व प्रवचन की हाईटेक विधियां विकसित कर ली हैं। इनकी सभा अब विशाल पैमाने पर आयोजित होती है और शार्टसर्किट टी.वी., वीडियो, कंप्यूटर, आधुनिक म्यूजिक सिस्टम आदि का सहारा लेकर अपनी बात नई पीढ़ी के लिए विश्वस्तरीय बनाने का प्रयास किया जाता है। यह पूरा आयोजन व्यावसायिक स्तर पर होता है। प्रवचन के आयोजन का प्रबंध बड़े-बड़े ठेकेदारों को सौंपा जाता है तथा प्रचार के लिए विज्ञापन कंपनियों की मदद ली जाती है। इन उपायों से अंधविश्वास और निष्क्रिय आस्था का जहर लोगों को अधिक प्रभावी ढंग से दिया जाने लगा है। टेलीवजिन और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से तंत्र विद्या तथा ज्योतिष जैसी अनुमानजनित विद्याओं की आड़ में लोगों को भाग्यवादी बनाकर अनेक तथाकथित ज्योतिषी एवं तांत्रिक अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।

अब तो धर्म और नैतिकता के नाम पर स्वतंत्र टी.वी. चैनल भी अंधविश्वास

की इन अंधी गलियों में घुस आए हैं। इससे धर्म-प्रचार ने एक सुव्यवस्थित व्यावसायिक रूप ले लिया है। दुर्भाग्य से कुछ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन अपनी दकियानूसी सोच तथा सत्ता-सुख के लोभ से प्रेरित होकर इस तरह के आयोजनों का न केवल समर्थन कर रहे हैं, बल्कि उनमें सक्रिय योगदान करके उन्हें विश्वसनीयता तथा सामाजिक मान्यता प्रदान करके अंधविश्वासों के अंधकार को और गहरा बना रहे हैं। बड़ा विचित्र लगता है कि भौतिकता की दौड़ में जो वर्ग आधुनिक से अति आधुनिक बनने को उत्सुक हैं, वही विचार और आस्था के स्तर पर सदियों पीछे जाने पर तुले हैं।

स्वयंभू भगवान और लोगों का भाग्यविधाता बनने की इस बीमारी का इतिहास नया नहीं है। जुलाई 1986 में नई दिल्ली के भव्य इंदिरा गांधी इनडोर स्टेडियम में अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त स्वयंभू महर्षि महेश योगी के कुछ शिष्यों ने देश-विदेश के हजारों लोगों को उपस्थिति में 'यौगिक फ्लाइट' का प्रदर्शन किया। यह घोषणा की गई थी कि वे लोग योग-शक्ति के चमत्कार से, बिना किसी उपकरण की सहायता के पृथ्वी से ऊपर उठेंगे। परंतु योगीजी के एक-दो एथलीट शिष्य ही एक-दो फुट ऊंचा उठ पाने में सफल हुए। यहां प्रश्न उनके सफल या असफल रहने का नहीं है। जब सामान्य एथलीट कुछ समय तक अभ्यास करके कई फुट ऊंची उड़ान लगा सकता है तो दो फुट ऊंचा उठने में क्या चमत्कार हो गया? इन चमत्कारों को महत्त्व इसलिए मिलता है, क्योंकि यह धर्म और योग के नाम पर हो रहा है।

धर्म के नाम पर दुकान चलाने में इन लोगों के सफल होने का मुख्य कारण संभवतः यह है कि ईश्वर अथवा धर्म के संबंध में चर्चा करते हुए यही कहा जाता है कि धर्म को समझने के लिए बुद्धि या दिमाग की नहीं, बल्कि श्रद्धा और भावना की आवश्यकता है। अंधश्रद्धा के इस चश्मे का ही प्रताप है कि धार्मिक रुझान वाले अनेक लोगों को अवतारों का चोगा पहनकर स्वार्थसिद्धि करने वालों का असली रूप दिखाई नहीं देता। वातानुकूलित कक्षों में निवास करने वाले ये आचार्य, भगवान और स्वामी दूसरों को त्याग और वैराग्य का उपदेश देते नहीं थकते। ये ईश्वरीय लोग अशिक्षित समुदाय को ही नहीं, शिक्षित वर्ग को भी गुमराह कर रहे हैं।

ऊपर जिस यौगिक उड़ान की चर्चा की गई है, उसमें योगकला का प्रदर्शन करने वालों में अनेक देशों के योगी थे। इन लोगों ने ध्यानावस्था में ही पृथ्वी से ऊपर उठने का प्रदर्शन किया। अधिकतर प्रयोग असफल रहे और कुछ प्रदर्शनकारी

तो एक इंच भी ऊपर नहीं उठ पाए।

कुछ वर्ष पहले एक और भगवान अवतरित हुए थे जो अपने को स्वामी अगेहानंद भारतीय कहते थे। वे अन्य मतों को ढोंग बताते थे और अपने दर्शन को ही यथार्थ, संपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इनका दावा था कि इन्होंने अनेक बार ईश्वरीय अनुभूति को प्राप्त किया है तथा अन्य लोग भी उनके बताए मार्ग को अपनाकर ईश्वरीय सत्ता के साथ अलौकिक तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। यह महाशय पहले आस्ट्रेलियन कैथोलिक थे, जो संभवत: भारत में आध्यात्मिक धंधे में अत्यधिक संभावनाओं से आकर्षित होकर दसनामी साधु बन गए। इनके कारनामे यहां तक बढ़ गए कि भारत सरकार को उन्हें देश से निष्कासित करना पड़ा। वे भगवा वस्त्र धारण करते थे, किंतु गाय सहित सभी पशुओं का मांस खाने, मदिरा पीने तथा नारियों की संगत को ईश्वरीय अनुभूति प्राप्ति का साधन मानते थे। इनका स्पष्ट मत था कि नशीले पदार्थ एल.एस.डी. के एक झटके से या किसी सुंदर महिला के साथ संभोग के अंतिम बिंदु पर ईश्वरीय सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना संभव है।

सत्य साईं बाबा का बड़ा जोर रहा। उन्होंने भी चमत्कारों के बल पर धर्म का डंका बजाकर हजारों शिष्य पैदा कर लिए हैं। लोग अपने गले में उनका चित्र लाकेट में लगाकर लटकाते हैं। घरों में उनके चित्र टांगे जाते हैं तथा राम, कृष्ण, शिव आदि देवताओं की तरह पूजे जाते हैं। वे कभी अपने बालों से शहद टपकाकर तो कभी राख झाड़कर उपस्थित जनसमूह की प्रशंसा अर्जित करते थे। उनकी सभाओं में असंख्य लोग पहुंचते हैं जिनमें राजनेता, उच्चाधिकारी, फिल्म अभिनेता और बड़े-बड़े व्यापारी तथा धनी-मानी महिलाएं भी होती हैं। हालांकि सत्य साईं बाबा कुछ सामाजिक और शैक्षणिक परियोजनाएं चलाकर अब समाज-सेवा के रास्ते पर भी चलने लगे हैं और राष्ट्रीय विपदाओं के समय उनके शिष्य सेवा-सहायता भी करते देखे गए हैं, किंतु अपने प्रारंभिक जीवन में उन्होंने चमत्कारों के बल पर ही ख्याति प्राप्त करने का प्रयास किया। अधिकांश लोग अपनी भौतिक इच्छाएं व आकांक्षाएं पूरी हो जाने के लालच में ही उनकी शरण में गए।

यह मात्र संयोग नहीं कि इन महापुरुषों में कुछ समानताएं देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए ये अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, इंग्लैंड आदि अवश्य जाते हैं। इनकी सचिव तथा अन्य सहायिकाएं सुंदर-सलोनी युवतियां ही होती हैं। ये आयातित एयरकंडीशंड कारों में चलते हैं। इनके शिष्य वर्ग में अधिकतर अमीर नेता और फिल्मी अभिनेता तथा गोरी चमड़ी वाले लोग अवश्य होते हैं, जिससे

अन्य लोगों पर रौब पड़ता है और शिष्यसंख्या बढ़ाने में मदद मिलती है। इनके आश्रम बड़ी-बड़ी एयरकंडीशंड इमारतों में होते हैं।

विदेशियों को शिष्य बनाना तो इन आधुनिक आचार्यों के लिए अनिवार्य है। इसी से भारत के लोगों पर वे अपनी श्रेष्ठता और उच्चता का सिक्का जमाते हैं। चंदन की खड़ाऊं और रेशमी भगवा उत्तरीय धारण किए हुए ये महात्मा लाल गलीचे पर चरण रखते हैं और गगनचुंबी अट्टालिकाओं में धूप-अगरबत्ती से सुवासित लिफ्ट में यात्रा करके ऊपर पहुंचते हैं। किसी को पुष्प, किसी को पत्र, किसी को वस्त्र तो किसी को भस्म देकर ये उनके दैहिक-मानसिक रोगों और कष्टों का निवारण करने का झांसा देते हैं। यह बात अलग है कि उनके भक्तों ने आज तक यह जानने का कष्ट नहीं किया कि चुटकी बजाकर दूसरों को निरोग बनाने वाले अवतारी पुरुष स्वयं क्यों बीमार रहते हैं।

15-20 वर्ष पूर्व नागपुर के पास वर्धा में खतौलीवाला बाबा ने दावा किया कि वह खड़ी चारपाई को चला सकते हैं। कुछ तर्कशील व्यक्तियों ने उनके इस दावे को चुनौती देते हुए कहा कि वे ऐसा करके दिखाएं। बाबा ने आधी रात का समय निश्चित किया और कहा कि चार युवक चारपाई को मजबूती से पकड़े रखें, लेकिन इन चारों को पहले स्नान करना होगा। कड़कड़ाती सर्दी में उन चारों ने स्नान किया। किंतु एक घंटे तक मंत्रों के उच्चारण के पश्चात भी जब चारपाई नहीं हिली तो चमत्कार देखने के लिए आए हजारों लोगों ने शोर मचाना शुरू कर दिया। इस पर बाबा ने कहा कि ये चार आदमी पवित्र नहीं हैं, इसलिए दूसरे लोगों को यहां खड़ा किया जाए। लेकिन लोगों को असलियत समझ में आ गई और अंततः उस फरेबी बाबा को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया।

मान भी लिया जाए कि ये लोग असंभव कार्य करने की शक्ति रखते हैं तो इसके लिए उनकी पूजा क्यों की जाए? यदि चमत्कार ही पूजा अथवा आस्था की कसौटी है तो उन वैज्ञानिकों की पूजा क्यों नहीं की जाती जिन्होंने रेडियो, टेलीविजन, हवाई जहाज, बिजली, उपग्रह, टेलीफोन, कंप्यूटर व परमाणु शक्ति जैसे चमत्कारपूर्ण आविष्कार किए हैं और मनुष्य को चांद तक पहुंचा दिया है! उन वैज्ञानिकों और चिकित्सकों की आरती क्यों नहीं उतारी जाती जिन्होंने ऐसे टीके और दवाएं तैयार कीं, जिन्होंने सदियों से मनुष्य का सर्वनाश करने वाले रोगों को नियंत्रित करने का चमत्कार कर दिखाया है!

एक बात और भी है। यदि इन तथाकथित 'दैवी व्यक्तियों' में वास्तव में कोई शक्ति है तो वे विशेषज्ञों के सम्मुख अपने चमत्कारों का प्रदर्शन करने से

क्यों कतराते हैं? साईंबाबा द्वारा बंगलौर विश्वविद्यालय के कुलपति से भेंट तक करने से इनकार कर देने से उनकी तथाकथित शक्ति का खोखलापन सिद्ध हो गया था। श्रीलंका के एक दर्शनशास्त्री ने सारे विश्व के लिए घोषणा की हुई है कि मेरे हाथ में नोट का नंबर बताने वाले को एक लाख रुपया दिया जाएगा, किंतु आज तक कोई भी तथाकथित अंतर्यामी या त्रिकालदर्शी स्वामी अथवा तांत्रिक इस चुनौती को स्वीकार करने को आगे नहीं आया।

आवश्यकता इस बात की है कि हम तथाकथित आध्यात्मिक और धार्मिक क्रियाओं में विश्वास करने से पहले यह सोचें कि वैज्ञानिक, तार्किक और व्यावहारिक कसौटी पर वे कहां तक खरी उतरती हैं।

ईश्वर अथवा किसी परमसत्ता में विश्वास, पूजा-अर्चना तथा अध्यात्म— ये सभी मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां है जो हमें शक्ति देती हैं। परंतु अंधविश्वासों और छोटे-मोटे चमत्कारों से प्रभावित होकर कर्म करने की बजाय तंत्र-मंत्र के माध्यम से सफलता पाने की कामना करना नकारात्मक धारणा है जो हमें पतन की ओर ले जाती है। आस्था और अंधविश्वास में सूक्ष्म किंतु अति महत्त्वपूर्ण अंतर है। जन-सामान्य में तर्क और विवेक का संचार करके इस अंतर के बारे में समझ को विकसित करके ही हम उन्हें अंधविश्वासों तथा चमत्कारों की अंधी गलियों की ओर बढ़ने से रोक सकते हैं।

जीवन का अंतिम सत्य—मृत्यु

एक बूढ़ा आदमी वर्षों से बीमार है। हाथ-पांव कांपते हैं, आंखों से दिखाई नहीं देता और कान कुछ भी सुनने में असमर्थ हैं। चारपाई पर ही शौच आदि करता है और लेटे-लेटे ही खाता-पीता है। जो लोग उसके इलाज पर हजारों रुपये खर्च कर चुके हैं वही रोज भगवान से प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो, इसे दुनिया से उठा लो।' परंतु यमराज को शायद इधर देखने की फुरसत ही नहीं है। दूसरी ओर, अस्पताल के एक वार्ड में पड़े युवक के दिल की धड़कन को फिर से चालू करने में बड़े-से-बड़ा डाक्टर सफल नहीं हो पा रहा है। कुछ ही क्षणों में सभी अत्याधुनिक यंत्रों और उच्च डाक्टरी ज्ञान को अंगूठा दिखाती हुई तथा युवा पत्नी के चीत्कार, मासूम बच्चे के आंसुओं और बूढ़ी मां की बेहोशी की अनदेखी करती हुई निर्दयी मृत्यु युवक के जीवन पर विराम लगा देती है। मृत्यु की कामना करने वाले भी निराश और उसे दूर भगाने वाले भी हताश हैं। मृत्यु का यही मायावी रूप मनुष्य के मन, विवेक और चिंतन के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। विश्व-भर में धर्म, दर्शन और विज्ञान इस अद्वितीय शक्ति का विश्लेषण और व्याख्या करते रहे हैं, परंतु इसका पार पाने में अभी तक सफलता नहीं मिल पाई है।

यक्ष-युधिष्ठिर संवाद हमारे पौराणिक साहित्य का प्रसिद्ध आख्यान है। यक्ष का एक प्रश्न था—'इस संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'लोग प्रतिदिन दूसरों को यमलोक जाते देखते हैं, किंतु फिर भी वे स्वयं को चिरंजीवी मानकर अपना जीवन बिताते हैं।'

इस सम्राज्ञी के निरंकुश शासन की सीमाएं पूरे ब्रह्मांड तक फैली हैं। मनुष्य के पास हर पल अपने आसपास इस पिशाचिनी के तांडव नृत्य को बेबस निहारने के सिवाय कोई चारा नहीं है। फर्क इतना है कि कुछ लोगों को मौत के पंजों का घाव गहरा लगता है तो कुछ को हलका। किंतु उसकी सर्वस्पर्शी काली छाया से कोई बच नहीं पाया। महात्मा बुद्ध जब संत और ईश्वरीय पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हो गए तो एक वृद्ध महिला अपने इकलौते युवा पुत्र का शव उनके सम्मुख ले आई और उसे जीवित करने का अनुरोध करने लगी। तथागत उस वृद्धा की

पीड़ा को समझ गए। उन्होंने कहा, ''मां, अगर तू एक काम कर दे तो मैं तेरे बेटे को फिर से जीवित कर सकता हूं।'' वृद्धा की आंखें चमक उठीं। बोली, ''जल्दी से आज्ञा कीजिए भगवन्! मैं अपने बेटे के लिए कुछ भी कर सकती हूं।'' गौतम बुद्ध ने कहा, ''मां, तुम किसी ऐसे गृहस्थ के घर से एक मुट्ठी चावल ले आओ, जिसके परिवार में कभी किसी की मौत न हुई हो।'' वृद्धा को आशा की किरण दिखाई दी और वह तत्काल वहां से भागी। किंतु सुबह से शाम तक आसपास के अनेक गांवों की खाक छानने के बाद भी उसे इस तरह का कोई घर नहीं मिला। लौटकर उसने भगवान बुद्ध के चरणों पर अपना सिर रख दिया और चुपचाप अपने बेटे का अंतिम संस्कार करने चल दी। उसे पता चल गया कि अनादिकाल से चल रहे और अनंतकाल तक चलते रहने वाले अविरल मृत्युचक्र की मार से बचना किसी भी प्राणी के लिए संभव नहीं है।

'मृत्यु' शब्द कानों से मस्तिष्क में उतरकर ज्यों ही अपना अर्थ व्यक्त करता है, आतंक और भय व्याप्त होने लगता है। इस प्रलय-नर्तकी के पांवों में बंधे कंटीले घुंघरुओं से निकली ध्वनि लाखों-करोड़ों प्राणियों के जीवन में विष घोलती चली जाती है। परंतु आंसुओं का अथाह सागर पी लेने के बाद भी यह प्यासी की प्यासी है। अबोध शिशुओं का क्रंदन, युवा विधवाओं की आहें, बूढ़ी मां की सिसकियां और भाई बहनों व मित्रों-सहृदयों की नम आंखें इस अजेय सत्ता की विनाशलीला को रोक पाने में सर्वथा विफल हैं।

मौत अचानक आ धमके अथवा बुलाई गई हो, प्रकृति के हाथों हो या मनुष्य के हाथों, अपने पीछे दुःखों का जो पहाड़ छोड़ जाती है वह कई पीढ़ियों तक जीवन-यात्रा में असंख्य बाधाएं खड़ी करता रहता है। एक व्यक्ति की मौत अनेक लोगों की जीवन-धारा को पूर्णतया मोड़ देती है। हाथों से मेंहदी का रंग भी अभी नहीं छूटा कि जीवन-साथी मृत्यु-कन्या के गले में बाहें डाल बैठा और दो दिन तक चहकती हुई अल्हड़ कन्या को विधवा का नया परिधान सौंपकर मौत अपनी अनंत यात्रा को चल दी। 'अभी आया' कहकर जाने वाले पुत्र के लिए भोजन की थाली लगाए बैठी मां को जब बेटे का मुसकराता हुआ संज्ञाहीन चेहरा देखने को मिलता है तो सारी दुनिया भूखे भेड़िये की भांति भोजन की थाली पर टूट पड़ती है और मां अपने आंसुओं की बाढ़ में उन्हें डुबोने और अपने चीत्कारों से उन्हें दूर भगाने की कोशिश करती है। पति की छांया में राज करने वाली पत्नी दर-दर की भिखारिन बन जाती है। पिता के साये से वंचित होकर इंजीनियर और डाक्टर बनने के स्वप्न देखने वाला लड़का पढ़ाई जारी रखने के लिए मेहनत-

मजदूरी करने को विवश हो जाता है या अपराध-संसार में भटक जाता है। मां के अंचल में निश्चिंत रहने वाली कन्या सौतेली मां के कटाक्षों से तंग आकर घर से भाग जाती है और घृणित पेशे को अपने जीवन का एकमात्र आश्रय मान बैठती है। एक राजा अथवा नेता की मौत से पूरे देश का भाग्य बदल जाता है। ऐसे इतिहासकारों की कमी नहीं है, जिनका मत है कि यदि स्वतंत्रता के तुरंत बाद महात्मा गांधी एक हत्यारे की गोलियों का शिकार होकर इस दुनिया से प्रस्थान न करते तो हमारे देश की राजनीति का स्वरूप कहीं अलग होता।

परंतु जन-जन को आतंकित और भयभीत करने के बावजूद मौत को मोक्ष भी माना गया है। अनेक बार मृत्यु व्यक्ति या समुदाय-विशेष के लिए मुक्ति का कारण बन जाती है। संभवत: इसी कारण हमारी संस्कृति में सबसे बड़े देव शिवजी को ध्वंस का देवता माना गया है। इसी प्रकार यमराज को धर्मराज कहा गया है। वास्तव में इस सृष्टि के संचालन के लिए मृत्यु का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि जन्म का। यदि जीवों की मृत्यु रुक जाए तो इस पृथ्वी पर पग रखने की भी जगह न बचे और भरण-पोषण के लिए कुछ भी उपलब्ध न हो। समष्टि की दृष्टि से जीवन का अंत तो वांछनीय है ही, कभी-कभी, व्यक्तिगत स्तर पर भी मौत सुखकर लगती है। असाध्य रोगों, सांसारिक दु:खों और मानसिक पीड़ा, तनाव तथा कुंठाओं से दबे व्यक्ति को मृत्यु का आंचल ही एकमात्र आश्रय दिखाई देता है। कभी-कभी मनुष्य स्वयंसृजित अथवा अयाचित परिस्थितियों से इतना अधिक त्रस्त हो जाता है कि उसे जटिल चक्रव्यूह से बाहर निकलने का एक ही रास्ता दृष्टिगोचर होता है और वह है जीवन का अंत। अपने शरीर को अग्नि को समर्पित करके दहेज के कारण मिल रहे कष्टों से मुक्ति पाने वाली बहुओं की बढ़ती हुई संख्या क्या इसी बात का संकेत नहीं है कि राक्षस-गृहों में कैद अबलाओं को जब कहीं से निस्तार की आशा दिखाई नहीं दी तो धधकती हुई ज्वालाएं भी उन्हें चंदन के लेप के समान शीतल लगने लगीं।

आत्महत्या को भले ही कायरता, पलायन और दुर्बलता का दूसरा नाम दिया जा सकता है, परंतु इतिहास की दीवार पर लिखे इस सत्य को नकारना कठिन है कि आत्मघात की घटनाएं हर युग, हर समाज और दुनिया के सब देशों में किसी न किसी रूप में होती रही हैं। इस आत्मघात का एक उज्ज्वल रूप भी है जिससे व्यक्ति अपने क्लेशों से मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए स्वयं मृत्यु को चूम लेता है। कुछ वर्ष पूर्व गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में भयंकर बाढ़ आई तो एक परिवार जान बचाने के लिए पेड़ पर चढ़ गया। परंतु पेड़ बहुत

कमजोर था और इस बात की आशंका थी कि जल्दी ही डालें टूट जाएंगी, जिससे पति, पत्नी और बच्चा बाढ़ में डूब जाएंगे। पत्नी ने तुरंत फैसला किया और वह पति और बच्चे को बचाने के लिए पानी में कूद गई। आत्महत्या का यह भी एक रूप है, जिसे बलिदान कहा जाता है। ब्रिटिश पुलिस की गोलियों के सामने छाती खोलकर आगे बढ़ने वाले स्वतंत्रता सेनानियों ने भी तो मौत को सादर आमंत्रित किया था। अपने पेट के साथ बम बांधकर शत्रुसेना में घुसने वाले बालकों का बलिदान भी इसी श्रेणी में आएगा। एसेंबली में बम फेंककर स्वयं को गिरफ्तार कराने वाले शहीदों को क्या मालूम नहीं था कि क्रूर अंग्रेज सरकार के पास इस काम की सजा है-- मृत्युदंड!

कुछ दार्शनिकों और कवियों ने भी परमानंद प्रदान करने वाली देवी कहकर मौत का स्वागत किया है। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में कहा है :

मृत्यु अरी चिरनिद्रे, तेरा अंक हिमानी सा शीतल।
तू अनंत में लहर बनाती, काल अवधि की-सी हलचल।

मृत्यु में अनंत शक्ति है। महात्मा बुद्ध का संवेदनशील हृदय मृत्यु का दृश्य देखकर ही इस सीमा तक द्रवित हो उठा कि उन्होंने हर प्रकार के मोह, ममता और सुख-वैभव को त्यागकर आत्मज्ञान की राह पकड़ी। मृत्यु से उपजे दुःख और करुणा के आधार पर ही उन्होंने बौद्ध दर्शन की कल्पना की, जो संसार के असंख्य मनुष्यों को मानसिक शांति और संतोष प्रदान करने में सहायक बना। सुत, दारा, पति अथवा मित्र के देहावसान के कारण घर-बार छोड़कर संन्यास का मार्ग पकड़ने वाले व्यक्तियों की इतिहास में कमी नहीं है। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती बचपन में अपने प्रिय चाचा की मृत्यु से इतने दुखी हुए कि मृत्युंजय बनने के संकल्प ने उन्हें संन्यास की राह दिखाई। इसी संकल्प ने दुनिया को इतना बड़ा समाजसुधारक और धर्मनेता प्रदान किया। प्रियजन से स्थायी विछोह के कारण कुछ लोग सेवा और आत्मोत्सर्ग का आदर्श जीवन अपना लेते हैं तो कुछ प्रतिहिंसा और क्रोध की आग में जलकर अपराध-जगत की दलदल में फंस जाते हैं, क्योंकि प्रियजन की मृत्यु का धक्का इतना शक्तिशाली होता है कि मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और विवेक मनुष्य का साथ छोड़ देता है। डाकुओं के व्यक्तिगत जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि किसी प्रियजन की अन्यायपूर्ण हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए शस्त्र थामा और एक की मौत से क्षुब्ध व्यक्ति मौत का सौदागर ही बन बैठा।

यह शक्ति व्यक्ति की तरह समाज को भी उद्वेलित करके उसे अच्छे या बुरे मार्ग पर चलने को प्रेरित करती है। लाला लाजपत राय की मौत ने क्रांतिकारियों की नींद हराम कर दी तो उस मौत का बदला लेने वाले तीन शहीदों की मौत ने पूरे देश की आत्मा को झकझोर दिया। महात्मा गांधी ने अनेक बार आमरण अनशन करके जनता और ब्रिटिश सरकार से अपनी बात मनवा ली। दंगों को रोकने के लिए उन्होंने 21 दिन का आमरण अनशन किया; क्योंकि महात्मा गांधी के जीवन, दूसरे अर्थों में उनकी मृत्यु का महत्त्व जनता भी समझती थी और सरकार भी। सरकार को मालूम था कि महात्मा गांधी के जीवन पर आंच आने की स्थिति में असंख्य भारतीयों के क्रोध को संभाल पाना असंभव हो जाएगा। आज भी अपनी बात मनवाने के लिए राजनेता तथा मजदूर नेता अनशन का सहारा लेते हैं। आत्मदाह की धमकी देकर बात मनाने के लिए सरकार या प्रबंधकों पर दबाव डालना भी इसी स्थिति का दूसरा रूप है।

मौत का भय भी बहुत बड़ी ताकत है। कहते हैं, लोग अकसर सांप के विष से नहीं, सांप के काटे जाने से मरने के भय से ही मर जाते हैं। इसलिए मौत के भय को हथियार के रूप में प्रयोग करके अपनी स्वार्थसिद्धि की प्रथा बहुत पुरानी है। मौत का भय दिखाकर शक्तिशाली लोग दुर्बलों का शोषण करते रहे हैं। छुरा, पिस्तौल, बंदूक, बम आदि दिखाकर संपत्ति लूटने, अनुचित काम करवाने अथवा महिलाओं का शीलभंग करने की दुर्घटनाएं कहां नहीं होतीं? मृत्यु की सूचना मात्र का प्रभाव गहरा होता है। अश्वत्थामा की मृत्यु की झूठी खबर सुनकर ही द्रोणाचार्य ने हथियार डाल दिए। यही कारण है कि निकट संबंधियों की मौत की सूचना एकाएक नहीं दे दी जाती। मौत की इस पुरजोर ताकत का सुखद उपयोग चिकित्साशास्त्र में किया जाता रहा है। पुराने जमाने में जब इलेक्ट्रिक शॉक जैसे उपचार की व्यवस्था नहीं थी तो मानसिक रोगियों को किसी निकट संबंधी के मरने की झूठी खबर सुनाई जाती थी, जिससे उसे एकाएक झटका लगता था और मानसिक संतुलन लौट आता था।

कहते हैं, मौत और वक्त किसी का इंतजार नहीं करते। वे निरपेक्ष और तटस्थ भाव से अपने चक्र को गतिशील रखते हैं। मौत यह नहीं देखती कि कोई व्यक्ति अपना कार्य पूर्ण कर चुका है अथवा नहीं। स्वामी विवेकानंद, आदि शंकराचार्य और भगत सिंह जैसे व्यक्ति युवावस्था में ही मौत की गोद में जा बैठे। मृत्यु समदर्शी है। इसके सामने न कोई निर्धन है न धनी, न हिंदू, न मुसलमान, न ईसाई या कोई अन्य धर्मावलंबी। प्रसिद्ध विद्वान होरेस के अनुसार—'मृत्यु राजा

और रंक दोनों का द्वार खटखटाती हैं। अत: मौत से भयभीत होना वांछनीय नहीं है, क्योंकि हमारे दर्शन के अनुसार, जन्म की तरह मृत्यु भी निश्चित है। गीता में कहा गया है, जो जन्मा है उसका मरना निश्चित है और जो मरा है उसका जन्म लेना निश्चित है। गीता में मृत्यु के संबंध में अत्यंत विशद चर्चा की गई है। मौत को पुराने कपड़े उतारकर नए वस्त्र धारण करने के समान सामान्य घटना बताते हुए कहा गया है :

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृहणति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही।।

इस प्रकार हमारे यहां पुनर्जन्म का सिद्धांत मृत्यु के भय को मिटाने का बहुत सशक्त शस्त्र है। यदि व्यक्ति यह मान ले कि मृत्यु मात्र चोला बदलना है और वह पुन: जन्म लेगा, अर्थात जीवन की निरंतरता बनी रहेगी तो मृत्यु के भय की सघनता कुछ हद तक कम हो सकती है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन के मन से उसकी अपनी और सगे-संबंधियों की मृत्यु के उपजे वैराग्य को दूर करने के लिए जीव तथा मृत्यु के अविरल एवं अभिन्न संबंध की चर्चा करते हुए कहा :

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवः जन्म मृतस्य च।
तस्याद परिहार्येअर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

मौत के बाद जन्म हो अथवा नहीं, जीवमात्र के लिए मरना अनिवार्य है और इस सत्य को स्वीकार करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि मृत्यु जीवन का अंतिम सत्य है। परंतु मौत को याद रखना मनुष्य के लिए लाभदायक है। मौत की स्मृति मनुष्य को पाश्विक और राक्षसी वृत्ति से बचा सकती है। इससे अहंकार और स्वार्थ पर अंकुश लग सकता है। यह वह कड़वी दवा है जो ग्रहण करने में कष्टदायी है, परंतु अंततः इस सृष्टि-रूपी शरीर के संचालन के लिए अत्यंत आवश्यक है और लाभप्रद भी।

भारतीय मंचकला व वास्तुशिल्प के दर्पण : प्राचीन प्रेक्षागृह

अन्य मनुष्यों अथवा समाज के साथ संचार या संपर्क ही मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का आधार रहा है। अपने को अभिव्यक्त करने की सहज-स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य ने अनेक माध्यमों से दूसरों से संपर्क करने का प्रयास किया। भाषा तथा संस्कृति के विकास के साथ ही अभिव्यक्ति एवं संपर्क के इन माध्यमों में भी संस्कार व सुधार होता गया और यही माध्यम कला, नृत्य, काव्य, संगीत, अभिनय जैसी विधाओं के रूप में विकसित हुए। सच तो यह है कि इन कला-विधाओं की प्रगति ही किसी समाज व उसकी संस्कृति की प्रगति की पहचान है। इन कलाओं एवं विधाओं के आयोजन एवं प्रस्तुतीकरण के स्थान या भवन को प्रेक्षागृह कहा जाता है, जो आजकल ऑडिटोरियम, थिएटर, सभास्थल, रंगमंच, सभागृह जैसे नामों से भी जाने जाते हैं। यह बताना आवश्यक नहीं कि भारत के समृद्ध सांस्कृतिक जीवन में संगीत, अभिनय, नृत्य जैसी सभी अभिनय-जनित कलाएं अपने चरम विकास पर रही हैं। परंतु बहुत कम लोग जानते हैं कि प्राचीन भारत में इन कलाओं के प्रदर्शन के कक्षों यानी प्रेक्षागृहों का शिल्प भी पर्याप्त विकसित था और साथ ही इन प्रेक्षागृहों के संबंध में विस्तृत ज्ञान भी हमारे वाङ्मय तथा अन्य स्रोतों में उपलब्ध है जो रोचक होने के साथ-साथ इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि थियेटर, ऑडिटोरिथम आदि को पश्चिम की देन समझने वाले विद्वान वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं।

प्रेक्षागृहों का उपयोग

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि प्रेक्षागृह मूलतः वह स्थान है जहां दर्शक या श्रोता सामूहिक रूप से किसी अभिनय-जनित प्रस्तुति का आनंद लेते हैं। आज की भांति प्राचीन काल में भी प्रेक्षागृह मुक्ताकाशी (ओपन एयर) यानी बिना छत के स्थल तथा भवन यानी छत एवं दीवारों से युक्त कक्ष के रूप में भी होते थे। प्रेक्षागृह स्वतंत्र भवन के रूप में भी होते थे और किसी प्रासाद, मंदिर आदि के उपांग के रूप में भी विद्यमान थे। मुख्य रूप से इन सभास्थलों का उपयोग

मनोरंजन, ज्ञान-प्रसार तथा धर्म-चर्चा के लिए होता था। मनोरंजन में नृत्य, संगीत, नाटक, क्रीड़ा जैसे आयोजन सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृहों में उत्सव, समारोह आदि जैसे कि वसंतोत्सव, कौमुदी-उत्सव आदि के आयोजन का भी उल्लेख मिलता है। ज्ञान-प्रसार में काव्य गोष्ठी, शास्त्रार्थ तथा धर्म-चर्चा में उपदेश, प्रवचन, यज्ञ, कथावाचन जैसी गतिविधियां शामिल थीं। प्रेक्षागृह सार्वजनिक तथा निजी दोनों प्रकार के प्रयोग के लिए होते थे। कार्यों के आधार पर प्रेक्षागृह के विभिन्न नाम प्रचलित थे जिनमें— रंगस्थल, रंगमंच, मंचवाह, प्रेक्षागृह, नाट्यशाला, रंगशाला, मल्लशाला, संगीतशाला, सभागृह, सभामंडप, रंगमंडप आदि का अधिक उल्लेख मिलता है। गुफाओं में भी इस प्रकार के सभास्थल बनाए जाते थे जो गुफा प्रेक्षागृह कहलाते थे।

प्रेक्षागृहों का इतिहास

भारत में मनोरंजन, ज्ञान-प्रसार तथा धर्मोपदेश तीनों प्रकार की गतिविधियों की अनवरत तथा समृद्ध परंपरा रही है। अत: हमारे यहां प्रेक्षागृहों के प्रयोग का लंबा इतिहास रहा है। प्राचीन प्रेक्षागृहों से संबंधित ज्ञान हमें तीन स्रोतों से प्राप्त होता है। ये हैं प्राचीन साहित्य, भारत का नाट्यशास्त्र और उत्खनन से प्राप्त अवशेष। प्रेक्षागृहों के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हुए युग-विशेष में प्रयुक्त वास्तुकला अथवा स्थापत्य-शिल्प का भी परिचय प्राप्त होता है।

प्राचीन साहित्य

(क) रामायण-महाभारत : वेदों में प्रेक्षागृहों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक युग में सांस्कृतिक आयोजन खुले एवं सामान्य स्थानों पर होते थे। वाल्मीकि रामायण में कुछ स्थानों पर रंगशालाओं के अस्तित्व की ओर संकेत हैं। उदाहरण के लिए, अयोध्या कांड में राजप्रासाद से जुड़े सभामंडप में उत्सव जैसे कार्यक्रम के आयोजन का प्रसंग आया है। इसी प्रकार एक अन्य उल्लेख के अनुसार राम-वनगमन के कारण भरत के मनोविनोद हेतु उनकी मित्रमंडली ने एक सभा (प्रेक्षागृह) में नृत्य-नाटक आदि का आयोजन किया। परंतु महाभारत काल में वास्तुशिल्प चरमोत्कर्ष पर था और महाभारत के विभिन्न पर्वों में विशाल रंगमडपों तथा रंगभवनों का व्यापक उल्लेख मिलता है। हरिवंश पर्व में कंस की वृहद् रंगशाला का उल्लेख है तो आदि पर्व में स्वयंवर-

मंडप का वर्णन आया है। सभा पर्व में विमानाकार सभाभूमि का उल्लेख है। इस प्रकार के प्रेक्षागृहों का उल्लेख दक्षिण भारत के वाङ्मय में भी उपलब्ध है। इन प्रेक्षागृहों में विभिन्न वर्गों के लिए पृथक आसन, अंतःपुर, जल-पानकक्ष की व्यवस्था की ओर भी संकेत किया गया है। महाभारत काल में मुख्यतया राजा अपने निजी व्यय से ऐसे प्रेक्षागृहों का निर्माण करवाते थे। उस काल में ये सभाभवन प्रायः मुख्य भवनों से संबद्ध होते थे।

(ख) बौद्ध एवं जैन ग्रंथ

बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में रंगमंडल, रंगमंच, नाट्यमंडल जैसे नामों के प्रेक्षागृहों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। कुछ बौद्ध जातकों में युद्धमंडल का उल्लेख है, जहां दर्शकों के सम्मुख मल्लयुद्ध तथा युद्धकौशल का प्रदर्शन किया जाता था। आयोदर जातक में मध्य रंगमंडल का वर्णन है जिसके एक ओर राजा तथा दूसरी ओर प्रजा के लिए आसनों की व्यवस्था रहती थी। इन सभी स्थलों पर राजकन्याओं के नृत्य तथा कंदुकक्रीड़ाओं का भी आयोजन किया जाता था। इसके अलावा उपस्थानशाला का भी उल्लेख है जिसका उपयोग प्रवचन, विचारगोष्ठी आदि के लिए होता था।

जैन धर्मग्रंथों में विशाल एवं समृद्ध प्रेक्षागृहों के अस्तित्व के साक्ष्य मौजूद हैं। इन स्थानों पर जैन तीर्थंकरों द्वारा धर्मोपदेश एवं प्रवचन देने का विधान था। जिनसेन कृत आदि पुराण के 23वें पर्व में सभा-विन्यास का वर्णन है जो राजभवनों से संबद्ध होते थे।

कुछ विशाल नाट्यशालाओं का भी वर्णन मिलता है जिनमें अनेक रंगमंच थे और दर्शकों व श्रोताओं के बैठने के लिए चौकियां थीं। कुछ जैन ग्रंथों में प्रेक्षाग्रहों के आकार, स्वरूप तथा उनकी आंतरिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

(ग) पुराण तथा संस्कृत साहित्य

कुछ पुराणों में भी प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा हुई है। उदाहरण के लिए ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्तुलाकार रासमंडल का संकेत है तो भागवत पुराण में मल्लक्रीड़ा उत्सव के लिए ऐसी रंगभूमि के निर्माण का वर्णन है जहां रंगमंच के दृश्य देखने के लिए सभी वर्गों के लोगों के लिए आसनों की व्यवस्था होती थी।

विष्णु पुराण में वृत्ताकार के साथ-साथ आयताकार तथा वर्गाकार नाट्यमंडलों का भी प्रमाण मिलता है। कुछ अन्य पुराणों में भी प्रेक्षागृहों के भिन्न-भिन्न रूपों की चर्चा है।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में बताया गया है कि रंगमंडल मंदिरों और राज-भवनों के अंग हुआ करते थे जहां नृत्य एवं अभिनय के कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते थे। राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में सभामंडप के निर्माण की विधि का भी वर्णन किया है। उन्होंने काव्य-गोष्ठी के लिए एक ऐसे रंगमंडप का कल्पना की है जिसमें सोलह स्तंभ, चार द्वार तथा आठ मतवारणियों की व्यवस्था है। 'संगीतरत्नाकर' नामक संगीत ग्रंथ में भी राजभवन से संबद्ध प्रेक्षामंडप का उल्लेख है। एक अन्य संगीत पुस्तक 'संगीतमकरंद' में चार द्वारों वाले वर्गाकार रंगमंडल की कल्पना की गई है और प्रत्येक द्वार हीरों से अलंकृत किया गया है। इसी प्रकार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा पतंजलि के 'महाभाष्य' जैसे अनेक ग्रंथों में भी नृत्य, संगीत, अभिनय तथा अन्य कार्यक्रमों के लिए प्रेक्षागृहों के प्रयोग का उल्लेख है। ये स्थान सार्वजनिक सभाओं तथा प्रवचन हेतु भी प्रयोग किए जाते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में रंगशाला को सामाजिक महत्त्व के साथ-साथ राजनीतिक महत्त्व भी मिल गया था। अर्थशास्त्र में एक पराजित राजा का वध जनता की उपस्थिति में एक रंगशाला में किए जाने का वर्णन आता है। 'कामसूत्र' में सरस्त्रती मंदिर के निकट 'समाज' की अवस्थिति का उल्लेख है। कालिदास की रचनाओं 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' में दरीगृह तथा शिलावेशक शब्दों का प्रयोग हुआ है जो पार्वत्य गुफाओं में बने प्रेक्षामंडप की ओर संकेत करते हैं, जहां नागर जन कला का आनंद लेते थे।

नाटक साहित्य

संस्कृत में नाटक साहित्य की अत्यंत समृद्ध एवं गौरवशाली परंपरा रही है। अश्वघोष, कालिदास, भास, शूद्रक, दंडी, भवभूति आदि विश्वप्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं में रंगमंच संबंधी निर्देश भी विद्यमान हैं जो प्रेक्षागृहों के अस्तित्व तथा उनके विविध स्वरूपों की ओर इंगित करते हैं। अश्वघोष, भास तथा शूद्रक के समय में नाटकों के अभिनय नगर से बाहर किसी स्थान पर किए जाते थे। भास के 13 नाटकों में मुक्ताकाशी अर्थात खुले रंगमंच से लेकर आच्छादित प्रेक्षागृहों

तक का वर्णन मिलता है। भास के समय विशाल एवं विस्तृत प्रेक्षागृहों का चलन था। शूद्रक के लोकप्रिय नाटक 'मृच्छकटिकम्' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उस समय प्रेक्षागृह विकास के चरमोत्कर्ष पर थे। इनके अलावा विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस', भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' और कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'मालविकाग्निमित्रम्' आदि नाटकों में भी परंपरागत प्रेक्षागृहों के स्वरूप का परिचय मिलता है। दंडी के 'दशकुमारचरितम्' में कृत्रिम शैल गुहाकार प्रेक्षागृहों का संकेत है, जिनमें कंदुकक्रीड़ा तथा ऐंद्रिक जाल अर्थात जादुई प्रदर्शनों का आयोजन भी होता था। इस प्रकार के प्रेक्षागृह राजभवन के ही अंग होते थे।

इन नाटकों के प्रेक्षागृहों की उल्लेखनीय बात यह है कि नाटकों के नेपथ्य स्थल का अभिनय-स्थल के रूप में प्रयोग किया जाता था। वाद्ययंत्रों को भी नेपथ्य स्थल पर रखा जाता था। इस संदर्भ में यह तथ्य विशेष महत्त्व रखता है कि उस युग में रोम एवं यूनान की रंगशालाओं में भी नेपथ्य स्थल पर वाद्ययंत्र यानी आर्केस्ट्रा रखने की प्रथा प्रचलित थी। 'मालविकाग्निमित्रम्' में संगीतशाला का भी उल्लेख मिलता है जो राजप्रासाद का एक अंग थी।

भरत का नाट्यशास्त्र

भारतीय नाट्यशास्त्र के वाङ्मय में भरत रचित 'नाट्यशास्त्र' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका रचनाकाल ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व माना जाता है। नाट्यसंबंधी विभिन्न पहलुओं के परिचय की दृष्टि से यह अद्वितीय ग्रंथ है। भरत ने नाट्यशास्त्र के पहले दो अध्यायों में प्रेक्षागृहों के निर्माण के लिए वास्तुकला के नियमों का विवरण दिया है। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि उस समय रंगमंच एवं प्रेक्षागृहों का समुचित विकास हो चुका था और स्थायी प्रेक्षागृहों का निर्माण किया जाता था। नाट्यशास्त्र में रंगशाला-निर्माण के विशेषज्ञों के लिए 'तन्नै' शब्द का प्रयोग हुआ है। भरत ने आकार की दृष्टि से तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों की चर्चा की है' परंतु ये प्रेक्षागृह स्वतंत्र भवनों के रूप में विद्यमान नहीं थे। ज्येष्ठ प्रेक्षागृह को मंदिरों के लिए उपयुक्त माना जाता था, जबकि मध्यमाकार के प्रेक्षागृह राजभवनों तथा छोटे प्रेक्षागृह अन्य प्रयोजनों के लिए उपयोगी समझे जाते थे। एक स्थान पर भरत ने इन तीनों में से मध्यमाकार प्रेक्षागृहों को सबसे उचित बताया है। भरत प्रेक्षागृह

के निर्माण के नियमों का उल्लेख करते हुए प्रेक्षक-स्थल एवं रंगमंच-स्थल को बराबर भागों में विभक्त करने का सुझाव देते हैं। रंगमंच-स्थल के अनेक अंग-उपांग थे जो रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्य, मतवारिणी आदि में विभाजित थे।

भरत ने आयताकार प्रेक्षागृहों के निर्माण की भी चर्चा की है। उससे पूर्व प्रायः वृत्ताकार या वर्गाकार प्रेक्षागृहों का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह का जो विकसित रूप उपलब्ध होता है उससे यह तथ्य भी उजागर होता है कि प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह आधुनिक काल के प्रेक्षागृहों से पिछड़े हुए नहीं थे।

उत्खनन से प्राप्त अवशेष

भारत में अनेक ऐतिहासिक स्थलों पर की गई खुदाई से मिले स्थापत्यावशेषों को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में मनोरंजन के लिए विशेष स्थानों की व्यवस्था होती थी। पाकिस्तान के सिंध प्रांत में मोहन-जोदड़ो नामक स्थान की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि आज से लगभग 3500 वर्ष पहले वहां अत्यंत समृद्ध एवं पूर्ण विकसित नगर था। आधुनिक आवासगृहों, जल-निकासी, सड़कों आदि के स्पष्ट अवशेष यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय सभ्यता का विकास चरमसीमा पर था। इसी मोहनजोदड़ो के पश्चिम की ओर एक दुर्ग में 90 फुट का वर्गाकार विशाल कक्ष मिलता है जिसमें स्तंभों की रचना तथा वहां बनी चौकियां यह संकेत देती है कि यह प्रेक्षागृह था और चौकियां प्रेक्षकों के लिए आसन के रूप में प्रयोग की जाती थीं। इसकी छत का उत्तर-पूर्वी भाग का ढलुवां होना भी प्रेक्षागृह के निर्माण सिद्धांतों के अनुरूप है। विद्वान इसे सिंधु सभ्यता का प्रेक्षागृह मानते हैं।

इन अवशेषों को देखकर यह भी प्रतीत होता है कि सिंधु सभ्यता में प्रेक्षागृह स्वतंत्र भवन के रूप में होते थे, क्योंकि इसके आसपास किसी मंदिर अथवा राजप्रसाद के अवशेष नहीं मिले हैं।

इसी प्रकार मध्य प्रदेश में सीतावेंगा तथा कुछ अन्य गुफाओं में नाट्यमंडप होने के प्रमाण मिले हैं। गुफा में उत्कीर्ण संदेशों को पढ़ने के पश्चात विद्वानों ने जो अर्थ निकाला है उसके अनुसार इस गुफा के पास एक मंदिर था जहां धार्मिक आयोजन होते थे और वहां आने वाले यात्रियों के मनोरंजन हेतु इस गुफा में बने सभा-मंडप में नाटक, नृत्य, संगीत एवं काव्य-पाठ होता था।

आंध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के तट पर बसे ऐतिहासिक स्थान नागार्जुनकोंडा में एक मुक्ताकाशी रंगशाला तथा एक रंगमंडप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। रंगशाला के समीप ही एक राजभवन के अवशेष मिलने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय रंगशालाएं राजभवनों से संबद्ध होती थीं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने मुक्ताकाशी रंगशाला से कुछ ही दूरी पर एक आच्छादित अर्थात् छतवाले रंगमंडप के अवशेष भी ढूंढ़े हैं। इस रंगमंडप में नक्काशी वाले 36 स्तंभ प्राप्त हुए हैं।

बिहार में पटना के उत्तर में स्थित कुम्मरद्वार नामक ग्राम में प्राप्त मौर्यकालीन स्थापत्य अवशेषों में एक विशाल सभाभवन के ध्वंसावशेष मिले हैं जिसकी लंबाई 300 फुट तथा चौड़ाई 250 फुट है। इस विशाल सभाभवन का वृहद् प्रेक्षागृह 80 स्तंभों के सहारे टिका था। कुछ विद्वानों की राय है कि इसमें नगर- वधुएं विशेष पर्वों या अवसरों पर नृत्य प्रस्तुत किया करती थीं।

उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि तथा खांडगिरि पहाड़ियों में अनेक जैनकालीन गुफाएं हैं जिनमें एक गुफा में प्राचीन प्रेक्षागृह के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह दुमंजिला प्रेक्षागृह राजा खारवेल द्वारा गुफा को काटकर बनाया गया था। गुफा में प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार गंधर्वबुद्ध की उपाधि से विभूषित इस राजा की गीत, संगीत एवं नृत्य में गहरी रुचि थी।

महाराष्ट्र में अजंता एवं एलोरा की गुफाओं को देखकर भी आभास होता है कि बड़ी-बड़ी गुफाओं को कलात्मक ढंग से काटकर विशाल एवं सूक्ष्म कक्ष बनाए गए जहां बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए प्रवचन तथा धार्मिक गोष्ठियों का आयोजन होता था। अजंता गुफा में ही 96 फुट लंबा और 44 फुट चौड़ा एक अन्य कक्ष है, जिसमें 26 स्तंभों के अतिरिक्त प्रेक्षकों के लिए चौकियां तथा एक चबूतरा है। यहां नवरंग कक्ष भी है जो विशाल सभामंडप ही है। यहां पर भी प्रवचन एवं धार्मिक गोष्ठियां आयोजित की जाती थीं।

इसके अतिरिक्त मैसूर की कृष्णागिरि पहाड़ियों, गुजरात में काठियावाड़ की तलज पर्वतश्रृंखला, कोंकण में कूड पहाड़ियों, मध्यप्रदेश में मंदसौर जिले के समीप धर्मराजशेखर पर्वतश्रृंखलाओं तथा कई अन्य स्थानों पर गुफाओं में बड़े-बड़े कक्ष मिले हैं, जिनका प्रयोग सभामंडल अथवा रंगशाला के रूप में किया जाता था।

दक्षिण भारत में मंदिरों के प्रांगण में कूथांबलम का प्रेक्षागृहों के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इन रंगमंडपों का स्वरूप भरत द्वारा प्रतिपादित प्रेक्षागृह शिल्प के सिद्धांतों के अनुरूप है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में स्थायी एवं अस्थायी दोनों प्रकार के प्रेक्षागृह तो थे ही उनके निर्माण का शिल्प तथा उससे संबंधित ज्ञान भी पूर्ण रूप से विकसित था। प्रेक्षागृह भारतीय समाज में संगीत, नृत्य, काव्य तथा अन्य कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के साथ-साथ इस तथ्य की ओर भी इंगित करते हैं कि सामान्य लोगों एवं विद्वानों व कलाकारों के बीच आदान-प्रदान की मुक्त परंपरा थी। यह भी निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह आधुनिक प्रेक्षागृहों से शिल्प, आकार, स्वरूप एवं निर्माण-स्तर की दृष्टि से किसी भी प्रकार से कम नहीं थे।

इतिहास तथा संस्कृति के मौन साक्षी : भारत के दुर्ग

विश्व का इतिहास साक्षी है कि शांति की कामना और स्थापना के सतत प्रयासों के बावजूद मनुष्य युद्ध की अनिवार्यता से मुक्त नहीं हो पाया है। संयुक्त राष्ट्र तथा विश्वशांति के उद्देश्य से गठित अन्य असंख्य अंतरराष्ट्रीय व बहुराष्ट्रीय संगठनों के होते हुए आज भी विश्व के किसी न किसी कोने से युद्धनाद और युद्ध में हताहत व्यक्तियों तथा उनके परिजनों का आर्तनाद सुनाई देता रहता है। हर युग में शांति के देवदूतों, मसीहाओं, पैगंबरों और ऋषियों ने युद्ध की विनाशलीला का भय दिखाते हुए मानवजाति को युद्ध से दूर रहने का उपदेश दिया है। किंतु इन सब आख्यानों, उपदेशों व आदेशों का आंशिक प्रभाव ही दिखाई देता है। भारत भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक असंख्य छोटी-बड़ी लड़ाइयां इस धरती पर लड़ी गई हैं। महाभारत से कारगिल तक लड़े गए सैकड़ों-हजारों युद्ध वास्तव में भारत के इतिहास के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। इन युद्धों का वास्तविक प्रभाव आम जनता पर पड़ता है यद्यपि उनमें प्रत्यक्षतः सेनाएं ही भाग लेती हैं। प्राचीनकाल एवं मध्यकाल में सेनाओं को जिन सुदृढ़ एवं सुरक्षित इमारतों में रखा जाता था, उन्हें दुर्ग या किला कहा जाता है। किला या दुर्ग किसी भी युद्ध की संपूर्ण रणनीति का मुख्य भाग होता था। आधुनिक काल में किलों का स्थान छावनियों ने ले लिया है।

इतिहास साक्षी है कि भारत में बाहरी हमलावरों के आने तथा विभिन्न राजवंशों या राजाओं के बीच संघर्ष होते रहने के कारण दुर्गों की आवश्यकता सदैव बनी रही। तभी तो हमारे शिल्पग्रंथों में दुर्ग के बिना राजा की तुलना विष-रहित सर्प और सूंड-रहित हाथी से की गई। हमारे देश में महाभारत-काल से लेकर ब्रिटिश काल के प्रारंभिक युग तक के दुर्ग अथवा उनके अवशेष मौजूद हैं। ये दुर्ग भारत की विविधतापूर्ण तथा समृद्ध वास्तुकला एवं स्थापत्यकला के शानदार नमूने हैं, जो अपने-अपने समय की सभ्यता, संस्कृति तथा कला के प्रतीकों को भी अपने में समेटे हुए हैं। सच तो यह है कि ये दुर्ग मात्र इमारतें न होकर भारत के समूचे इतिहास के मौन साक्षी है। कुछ किले तो शासन के साथ-

साथ धर्म, संस्कृति और सभ्यता के संरक्षण से भी जुड़े रहे हैं। ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई से प्राचीन वास्तुकला, मूर्तिशिल्प एवं चित्रकला के नमूने तथा महलों व दुर्गों के अवशेष मिल रहे हैं। इन नई खोजों से मानव सभ्यता के विकास के इतिहास पर नई रोशनी पड़ रही है।

दुर्गों का इतिहास

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग इस शताब्दी के प्रारंभ से ही ऐतिहासिक एवं पुराकालीन स्थलों की खुदाई कर रहा है। इन्हीं प्रयासों से मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा जैसी प्राचीन संस्कृतियों के अवशेष मिले, जिनसे भारत के इतिहास के प्रति इतिहासकारों की दृष्टि ही बदल गई। इस खुदाई में हड़प्पा दुर्ग के भी अवशेष प्राप्त हुए।

जहां तक दुर्गों के इतिहास का संबंध है इनका उल्लेख भारत के सबसे प्राचीन वाङ्मय वेदों में भी उपलब्ध है। पुराणों में मेरुपर्वत पर बसे सुदर्शन नामक नगर का उल्लेख आया है जिसके मध्य में एक दुर्ग है, जिसमें देवराज इंद्र का वास है। सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है जिसमें कहा गया है कि राजा सुदास ने परुण्णी (रावी) नदी पार करके सात दुर्गों को नष्ट किया। रामायण में अयोध्या के रामकोट दुर्ग का उल्लेख है जिसके 20 दरवाजे थे और उसमें राजप्रासाद भी थे। रामायण में अयोध्या की किलेबंदी अर्थात् दुर्ग-सन्निवेश का भी उल्लेख है। महाभारतकाल के अवशेष दिल्ली के पुराने किले में मिले हैं।

इसके अलावा अनेक पुराणों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रंथों, शुक्राचार्य की शुक्रनीति तथा अन्य बहुत-सी पुस्तकों में न केवल दुर्गों की आवश्यकता, बल्कि उनके प्रकारों, निर्माण-विधि, विविध अंगों तथा अन्य पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। 400 ईस्वी में भारत की यात्रा पर आए चीनी यात्री फाह्यान ने पाटलिपुत्र के भव्य दुर्गों तथा महलों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

किलों का सबसे अधिक निर्माण मध्यकाल में हुआ। यों तो देश के सभी भागों में नए-पुराने दुर्ग या उनके अवशेष फैले हुए हैं, किंतु सबसे अधिक किले राजस्थान और महाराष्ट्र में पाए गए हैं। किलों की दृष्टि से दिल्ली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

किलों के अध्ययन के लिए हम देश को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। ये हैं—उत्तर तथा मध्य भारत, पश्चिम भारत और दक्षिण भारत।

उत्तर तथा मध्य भारत

उत्तर भारत और मध्य भारत मध्यकाल में अनेक बड़े युद्धों तथा सैनिक गतिविधियों के केंद्र रहे हैं। दिल्ली, आगरा, ग्वालियर, मांडू, इलाहाबाद, रोहतासगढ़, बुंदेलखंड, बघेलखंड आदि स्थानों पर बने किले अपने-अपने समय के इतिहास का बखान कर रहे हैं। उत्तर भारत में किलों की संख्या की दृष्टि से देश की वर्तमान राजधानी दिल्ली का पहला स्थान है। बल्कि दिल्ली को किलों की नगरी ही कहा जा सकता है। विश्व में शायद ही कोई ऐसा नगर होगा जहां 10 दुर्ग हों। यहां पर पांडव- काल से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक के बने दुर्ग अथवा उनके अवशेष मौजूद है। पुराने किले के समीप जो खुदाई की गई, उससे 1000 वर्ष ईसा पूर्व तक के अवशेषों की पुष्टि हुई है। ऐसी मान्यता है कि इस स्थान पर पांडवों के लिए इंद्रप्रस्थ दुर्ग का निर्माण किया गया था। दिल्ली के किलों में इंद्रप्रस्थ, लालकोट, राय पिथौरागढ़, सीरी, तुगलकाबाद, जहांपनाह, दीनपनाह, शेरगढ़ (पुराना किला), सलीमगढ़ और लालकिला प्रमुख हैं। 1639 में शाहजहां द्वारा बनाए गए लालकिले को छोड़कर अन्य कोई भी दुर्ग पूर्ण दुर्ग के रूप में सुरक्षित नहीं है। उनके खंडहर ही बचे हैं। लालकिला न केवल संपूर्ण किले के रूप में सुरक्षित है, बल्कि आधुनिक भारत के इतिहास का हिस्सेदार भी है।

लालकिला केवल दिल्ली का दिल ही नहीं, पूरे देश की धड़कन है। हर साल 15 अगस्त को इस किले पर देश के प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रीय ध्वज फहराया जाता है। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में भी यह किला विजयगढ़ के रूप में हमारी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया था। आजादी की लड़ाई के दिनों में भी यह किला स्वतंत्रता सेनानियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने लालकिले पर तिरंगा फहराने हेतु 'दिल्ली चलो' का नारा दिया था। आजाद हिंद फौज के सेनानियों पर इसी किले में मुकदमे चलाए जाने के कारण भी लालकिले का नाम स्वतंत्रता संग्राम से और गहराई से जुड़ गया।

लालकिला भारत का महान ऐतिहासिक स्मारक तथा आजादी और राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। हर शाम ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से इसके भव्य अतीत की झांकी लोगों को दिखाई जाती है। यह किला सेना और भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के सम्मिलित अधिकार में है। 1857 में किले में अंग्रेज सेना ने प्रवेश किया था। तब से सेना का किले पर कब्जा चला आ रहा है। कुल 80.45 एकड़ में फैले इस किले का 68.46 एकड़ भाग सेना और शेष हिस्सा पुरातत्त्व विभाग

के नियंत्रण में हैं।

दिल्ली के लालकिले की तरह आगरा का लालकिला भी मुगलकालीन स्थापत्य-कला की अनुपम मिसाल है। मजबूती की दृष्टि से यह संसार के श्रेष्ठ किलों में से एक है। यह भी शाहजहां द्वारा बनवाया गया था। संयोगवश दिल्ली और आगरा दोनों शहरों के लालकिलें यमुना नदी के किनारे बने हुए हैं। गंगा-यमुना संगम पर बना इलाहाबाद का किला, कालिंजर दुर्ग, झांसी का किला, वाराणसी के निकट गंगा तट पर बना चुनार किला तथा ग्वालियर किला और मांडू दुर्ग इस क्षेत्र के अन्य महत्त्वपूर्ण किले हैं। मांडू किले के साथ रानी रूपमती और राजा बाजबहादुर की प्रेमकथा जुड़ जाने से इसकी छवि रोमांटिक किले की बन गई है। हर साल करीब 2 लाख पर्यटक इस किले तथा इसके साथ बने महल को देखने आते हैं।

ग्वालियर दुर्ग को किलों में मोती की संज्ञा दी गई है। आगरा से मात्र 118 कि.मी. के फासले पर विंध्य पर्वतमाला के आखिरी छोर पर ग्वालियर का किला है। यह किला दूर से बड़ा शानदार लगता है और ज्यों-ज्यों आप समीप आते जाएंगे, किले की चारुता, विशालता और ऊंची प्राचीरों को देखकर आंखें चौंधियाने लगेंगी। किले की ऊंचाई ऐसी है कि वह समूचे ग्वालियर शहर पर छाया हुआ दिखता है। आज किला भले ही गुमसुम हो, पर इसने कई सदियों का इतिहास देखा है। उत्तर से दक्षिण जाने वाले राजमार्ग पर होने के कारण यह अकसर आक्रमणों का शिकार भी रहा है।

पश्चिम भारत

पश्चिम भारत में हम राजस्थान, गुजरात और गोवा के किलों की चर्चा करेंगे। राजस्थान तो दुर्गों का प्रदेश ही है। प्रदेश के हर भाग में दुर्ग अथवा उनके अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें चित्तौड़, रणथंभौर, कुंभलगढ़, जैसलमेर का सोनार किला, जोधपुर का मेहरानगढ़, अजमेर का तारागढ़, जयपुर का आमेरगढ़, भरतपुर का लोहागढ़ तथा गढ़ बूंदी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की रियासतों के बीच निरंतर लड़ाइयां होती रही हैं, जिनके लिए समय-समय पर दुर्ग बनाए गए। इनमें से अनेक दुर्ग पहाड़ियों या टीलों पर बने हैं।

चित्तौड़गढ़ की तुलना विश्व के श्रेष्ठ दुर्गों से की जाती है। इसके संबंध में कहावत प्रचलित है—'गढ़ों में गढ़ चित्तौड़गढ़ बाकी सब गढ़ैया' इसी कारण इसे महादुर्ग कहा जाता है। यह किला इतना विस्तृत और विशाल है कि यह

अपने-आपमें एक नगर है। इसके साथ कई शौर्य-गाथाएं तथा त्याग एवं बलिदान की गौरवगाथाएं जुड़ी हैं। यह किला राजस्थान के दुर्गों का सिरमौर है।

भारतीय दुर्गों में चित्तौड़गढ़ का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाता है। यह दुर्ग केवल विशाल ही नहीं, वरन अनेक महलों, स्तंभों, छतरियों, दरवाजों, अंत:पुरों, तालघरों, बाजारों, बावड़ियों और बुर्जों समेत अनगिनत स्मारकों के साथ आजादी के दीवानों के लिए प्रकाशपुंज और प्रेरणा-स्रोत भी रहा है। इस दुर्ग के वीर आन, बान और शान को कायम रखते हुए बड़ी से बड़ी शक्ति के सामने भी कभी नहीं झुके।

अजमेर का तारागढ़ भी राजस्थान के महत्त्वपूर्ण दुर्गों की श्रेणी में आता है। पर्वत-शृंखलाओं में बसा यह किला राजस्थान का प्राचीन गिरिदुर्ग है। तारागढ़ अपनी प्राचीरों और सुदृढ़ बुर्जों के लिए प्रसिद्ध था। इसकी रचना से प्रभावित होकर बिशप हैबर ने इसे पूर्व का जिब्राल्टर कहा था। यह दुर्ग चित्तौड़गढ़ या रणथंभौर के दुर्गों जैसा बहुचर्चित भले ही न हो परंतु इतिहास का धनी अवश्य है। इसके साथ इतिहास की अनेक रोमांचक गाथाएं जुड़ी हैं। दुर्ग का निर्माण सातवीं सदी में शाकुंभरी के चौहान नरेशों ने अरब खलीफाओं के आक्रमणों से बचने के लिए कराया था।

किलों, दुर्गों या गढ़ों की प्रसिद्धि मुख्यत: वहां हुए आक्रमणों और लड़ाइयों तथा उनके लिए हुए असंख्य बलिदानों के कारण होती है। किंतु राजस्थान में बहुत-से दुर्ग ऐसे भी है जहां न कभी कोई आक्रमण हुआ और न ही लड़ाई हुई, फिर भी वे देश-विदेश में प्रसिद्ध हैं। जयपुर के निकट जयगढ़, आमेरगढ़, नाहरगढ़ किले ऐसे ही हैं। ये किले जयपुर आने वाले पर्यटकों के लिए आकर्षण का विशेष केंद्र हैं। वास्तव में ये किले राज्य को रक्षा-कवच के घेरे में लेने के लिए बनाए गए थे।

जयपुर में आने वाले पर्यटकों को दूर से ही आमेरगढ़-नाहरगढ़ (सुदर्शनगढ़) दीखने लगते हैं। नाहरगढ़ तो पूरे शहर पर छाया हुआ-सा लगता है। वस्तुत: आमेर का वर्तमान किला जिस स्वरूप में है, उसे मोर्चाबंदी युक्त महलों की संज्ञा प्रदान करना ही अधिक उपयुक्त होगा। जयगढ़ ही सही अर्थों में किला है। इसके सुदृढ़ गोलाकार बुर्ज, ऊंची प्राचीरें और उन्नत द्वार सुरक्षा की दृष्टि से आदर्श है। पहाड़ों की सघनता, वृक्षों का आधिक्य और तलहटी की संकीर्णता मिलकर आमेरदुर्ग को बड़ा सुरक्षित स्थान बना देते हैं। बाद में नाहरगढ़ बन जाने पर उधर की पांच कि.मी. की पहाड़ी जब प्राचीरों से ढक गई तो सुरक्षा की दृष्टि से यह स्थान और

भी सुदृढ़ बन गया।

इतिहासकारों के अनुसार गुजरात की संस्कृति हड़प्पाकालीन थी। गुजरात प्रदेश अपेक्षाकृत शांत और आक्रमणों तथा लड़ाई से मुक्त रहा है। फिर भी यहां कई प्राचीन दुर्गों के अवशेष मौजूद हैं। द्वारका के निकट हुई खुदाई में 3500 वर्ष प्राचीन दुर्ग की दीवार का पता चला है। इस क्षेत्र में सागर के भीतर भी एक परकोटा मिला है। राजकोट जिले में भी खुदाई में एक दुर्ग के अवशेष प्राप्त हुए हैं। गुजरात के प्रमुख दुर्गों में जूनागढ़, पावागढ़, दबोही, आंडा आदि गिनाए जा सकते हैं। इनमें जूनागढ़ का किला विशेष उल्लेखनीय है।

दुर्गों के अवशेषों में जूनागढ़ (ऊपरकोट) दुर्ग काफी प्राचीन है। जूनागढ़ दुर्ग गिरनार पहाड़ी पर है। यह गुजरात की सबसे ऊंची पहाड़ी है। यहां अशोक-कालीन शिलालेख आज भी ज्यों के त्यों हैं। जूनागढ़ का शाब्दिक अर्थ ही पुराना किला है। जूनागढ़ के आज दो रूप हैं—एक खूबसूरत शहर और दूसरा प्राचीन किला। इसमें मंदिरों, गुफाओं, शिलालेखों और कुंडों की प्रचुरता है। आज का जूनागढ़ ऊपरकोट (गढ़) का विस्तृत अंश है और इसकी स्थापना 875 में चुंडूसामा राजपूत वंश के ग्रहारियू प्रथम ने की थी। इतिहास में जूनागढ़ का अस्तित्व 250 ईसा पूर्व में भी था।

पश्चिम भारत के सुंदर एवं मनोहारी क्षेत्र गोवा पर लगभग 450 वर्षों तक पुर्तगाल का शासन रहा। इस दौरान पुर्तगालियों ने अनेक सागरदुर्गों का निर्माण किया तथा कई किलों का पुनर्निर्माण किया। गोवा पर कब्जा जमाने के लिए डच, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ पुर्तगालियों की लड़ाइयां भी हुईं। गोवा के किलों में आग्वाद, मुरगांव, नरोआ, राइसमरगोस, टीविम, चादोम, कोलवाल आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी किले 1612 से 1739 के बीच बनाए गए।

आग्वाद दुर्ग गोआ के किलों में सबसे बड़ा और संरक्षित दुर्ग है। यह किला मांडवी नदी और अरब सागर के मुहाने के ठीक सामने समुद्र तल से 87 मीटर ऊंची पहाड़ी पर निर्मित है। आग्वाद की खाड़ी कार्बो और आग्वाद अंतरद्वीपों से मिलकर बनी है। इसके पश्चिम की पहाड़ियां समुद्र की लहरों के टकराने के बाद भी टूटी नहीं हैं। इसी जगह आग्वाद दुर्ग बना है। इसका निर्माण 1612 में हुआ।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में बहुत से प्राचीन तथा मध्यकालीन किले अथवा उनके अवशेष मौजूद हैं। इस क्षेत्र के किलों में गोलकुंडा, गुलबर्ग, बीजापुर, बीदर, विजयनगर,

शिवनेरी, राजगढ़, सिंहगढ़, प्रतापगढ़, पन्हालगढ़, रायगढ़, श्रीरंगपट्टण आदि प्रसिद्ध हैं। शिवाजी ने अपनी छापामार रणनीति के अनुसार किलों के निर्माण में चतुराई, कौशल और आक्रामक तकनीक का प्रयोग किया।

गोलकुंडा 610 मीटर की ऊंचाई पर आठ किलोमीटर की परिधि में तिहरी प्राचीरों से घिरा हुआ दुर्ग है। यह आंध्र प्रदेश की राजधानी हैदराबाद से मात्र 10 कि.मी. दक्षिण-पश्चिम में स्थित देश के पांच प्रमुख किलों में से एक है। बंजारा पहाड़ी की ऊंची ग्रेनाइट चट्टानों पर निर्मित यह किला भारतीय इतिहास का एक शानदार अध्याय है। इसने 13वीं से 17वीं शती तक धूप, आंधी व काल के अनेक थपेड़े सहे हैं। गोलकुंडा की प्रसिद्धि कुतुबशाही सुलतानों के शासन में हुई।

बीजापुर का भारत के इतिहास में विशेष स्थान है। यह 'दक्षिण भारत का आगरा' के नाम से भी जाना जाता है। यह संयोग ही है कि दो बेजोड़ विश्वप्रसिद्ध इमारतें ताजमहल और गोलगुंबद एक साथ 17वीं शती में बनीं। स्थापत्य-शिल्प में बीजापुर की अपनी पृथक पहचान है। इसका श्रेय आदिलशाही सुलतानों को है जिन्हें इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। बीजापुर किला मुसलमान सुलतानों द्वारा निर्मित दक्षिण का सबसे बड़ा किला है।

शिवनेरी किले की गणना भारत के विख्यात दुर्गों में होती है। शिवनेरी यद्यपि एक प्राचीन गिरिदुर्ग है, परंतु उसकी प्रसिद्धि छत्रपति शिवाजी की जन्मभूमि होने के कारण है। इसीलिए वह महाराष्ट्र के लिए पुण्यस्थल बन गया है। इसी दुर्ग में 19 फरवरी 1627 को छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ था। शिवनेरी दुर्ग का इतिहास काफी पुराना है। मौजूदा किलेबंदी भले ही मध्ययुगीन हो, परंतु इस दुर्ग का निर्माण प्राचीनकाल में हुआ था। दुर्ग के चारों ओर 50 से ज्यादा बौद्ध गुफाएं हैं।

इसी तरह इतिहास प्रसिद्ध सिंहगढ़ सुदृढ़ एवं अजेय दुर्गों में से एक है। दुर्ग कब बना, इसके बारे में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दुर्ग-रचना को देखते हुए इतिहासकारों ने इसे प्राचीन माना है। 1647 में दुर्ग पर शिवाजी ने कब्जा किया था। शिवाजी ने इसी गढ़ से पुणे के लालमहल में रुके औरंगजेब के मामा और सेनापति शाइस्ताखां पर 5 अप्रैल 1663 को आक्रमण करके उसे जबरदस्त शिकस्त दी थी।

शिवाजी के जीवन से जुड़े अन्य दुर्गों में प्रतापगढ़ का नाम लिया जा सकता है। प्रतापगढ़ महाराष्ट्र का सबसे नामी और चित्रोपम दुर्ग है। यह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पर्यटन स्थल महाबलेश्वर से 24 कि.मी. दूर है। छत्रपति शिवाजी ने

कोंकण की ओर से दर्रों पर नियंत्रण रखने के लिए दुर्ग का निर्माण शुरू करवाया और यह 1656 तक निर्मित हो गया। प्रतापगढ़ मूलतः गिरिदुर्ग है।

महाराष्ट्र के अधिकतर दुर्ग गिरिदुर्ग हैं और इनका शिवाजी के युद्धों से संबंध रहा है। महाराष्ट्र के दुर्गों में रायगढ़ का स्थान सर्वोपरि है। दुर्ग काफी विशाल और पुराना है। इसकी विशिष्ट स्थिति, सामरिक महत्त्व और अजेयता को देखते हुए शिवाजी ने इसे राजधानी के लिए चुना और कल्याण के सूबेदार आबाजी सोनदेव को दुर्ग को राजधानी लायक बनाने के लिए आवश्यक भवनों के निर्माण की जिम्मेदारी सौंपी।

1674 में रायगढ़ राजधानी बना। उस समय तक दुर्ग में चूना पत्थर की तीन सौ इमारतें, राजमहल, दरबार, अन्न गोदाम, गोला-बारूद के भंडार, दो हजार सैनिकों के लिए आवास, बाजार, मंदिर और जलाशय विशेष रूप से निर्मित किए गए थे।

दक्षिण का श्रीरंगपट्टण किला इतिहास की अनेक घटनाओं का साक्षी है। कावेरी नदी के एक द्वीप पर बने इस दुर्ग के शासकों हैदर अली और टीपू सुलतान ने अंग्रेजों के शासन को हिलाकर रख दिया था। टीपू सुलतान को मैसूर का शेर कहा जाता है। इस किले का निर्माण 1545 में किया गया। आज यह किला जर्जर हालत में है। वास्तव में यह दुर्ग इतिहास का जीता-जागता संग्रहालय है। इसके अवशेषों को देखकर इसके भव्य अतीत का अनुमान लगाया जा सकता है।

सागरदुर्ग

समुद्र तथा नदियों के बीच या उनके किनारे सामरिक दृष्टि से बनाए गए किलों को सागरदुर्ग कहा जाता है। सागरदुर्गों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी है। प्राचीन वाङ्मय में दुर्ग प्रमेघ में जलदुर्ग को तीसरे स्थान पर रखा गया है। कौटिल्य के अनुसार : राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिए प्राकृतिक साधनों की सहायता से दुर्ग-व्यवस्था अनिवार्य रूप से की जानी चाहिए। आवश्यकतानुसार कहीं नदी के किनारे या अंतद्वीपीय स्थान पर जहां जल भरा हो, जलदुर्ग का विन्यास करना चाहिए।

मध्यकाल में जूनागढ़, सूरत, मुंबई, पेरिया, सिंधु, जंजीरा और गोवा में कई सागरदुर्ग बने थे। गुजरात के सुलतान ने पुर्तगालियों के आक्रमण से बचाव के लिए जूनागढ़ में मिस्र से तोपें मंगवाई थीं। ये तोपें जूनागढ़ के ऊपरकोट किले में आज भी है। सूरत पर पुर्तगालियों ने कई बार आक्रमण करके शहर को लूटा था। सूरत

को आक्रमणों से बचाने के लिए गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने 1546 में 18 मीटर ऊंची प्राचीर तथा सुदृढ़ बुर्जों का निर्माण कराया था। इस किले के निर्माण की जिम्मेदारी तुर्की के एक सरदार को दी गई थी।

सागरदुर्गों के निर्माण में छत्रपति शिवाजी का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने 3 प्रमुख सागरदुर्गों का निर्माण कराने के साथ-साथ जलसेना का संगठन करके अंग्रेजों, पुर्तगालियों और सिद्दियों से लोहा लिया था। सागरदुर्गों में प्रमुख रूप से खंडेरी, जंजीरा, सिंधुदुर्ग, विजयदुर्ग, कल्याण सुवर्णदुर्ग, कनकदुर्ग, आलीबाग, गोवा के किले, घोड़बंदर और रत्नागिरि आदि उल्लेखनीय हैं।

छत्रपति शिवाजी ने जिन दुर्गों का निर्माण कराया, उनमें सिंधुदुर्ग सबसे विलक्षण है। यह दुर्ग मालवण के समुद्रतट पर मुंबई से 304 कि.मी. दक्षिण में मुंबई-गोवा मार्ग पर रत्नागिरि की दक्षिणी पट्टी पर है। यह उनकी दूसरी राजधानी भी थी।

सांस्कृतिक गरिमा एवं प्राकृतिक सौंदर्य की प्रतीक : भारत की झीलें

मानव जीवन का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि सभ्यता का विकास जल के सामीप्य में हुआ है। किसी जलस्रोत की निकटता सभ्यता के विकास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। जल यों तो संपूर्ण जीव-जगत की आधारभूत आवश्यकता है, किंतु इसकी उपयोगिता केवल मनुष्य के भौतिक जीवन तक सीमित नहीं है। जल के अवलोकन, स्पर्श और ध्वनि ने मानव की कल्पना को गहराई और विराटता प्रदान करके उसकी संवेदनाओं को सृजनात्मक विस्तार भी दिया है। सच तो यह है कि सृष्टि का स्फुरण ही जलराशि से हुआ। जयशंकर प्रसाद के अमर महाकाव्य 'कामायनी' का प्रथम छंद इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा करता है :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन,
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

जड़ और चेतन दोनों अवस्थाओं में जल ने न केवल मनुष्य के भौतिक अस्तित्व का संरक्षण किया है बल्कि उसे मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान की प्रेरणा भी दी है। समुद्र, नदी, झील, सरोवर, कूप, बावड़ी, तालाब जैसे विभिन्न प्राकृतिक एवं कृत्रिम जलस्रोत मानव सभ्यता के विकास के साक्षी ही नहीं, उसमें सहायक भी रहे हैं। सौंदर्य-चेतना की दृष्टि से झील जलस्रोतों का सबसे अद्‌भुत रूप है, क्योंकि इसमें पानी गतिशील होते हुए भी स्थिर प्रतीत होता है। इसे घिरी खाड़ी, थाला सरोवर, कुंड, ताल, जलाशय, अरवात आदि नामों से

भी जाना जाता है।

झील की परिभाषा करनी हो तो इसे चारों ओर से भूमि से घिरा ऐसा जल-क्षेत्र कहा जा सकता है जहां से जल का निकास तो न हो किंतु वहां जल निरंतर बना रहे। झील के आकार-प्रकार की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती, क्योंकि अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियों और क्षेत्रों में इसका आकार अलग-अलग होता है। कुछ झीलें तो इतनी विशाल होती हैं कि समुद्र प्रतीत होती हैं। कैस्पियन और अराल सागर इसी श्रेणी की झीलें हैं। इनके आकार के कारण ही इन्हें सागर नाम दिया गया है।

मुख्यतया झीलें दो तरह की होती हैं—प्राकृतिक और कृत्रिम या मानव-निर्मित। स्वाद की दृष्टि से झीलें खारे पानी और मीठे पानी की होती हैं। इनमें अंतर यह है कि मीठे पानी की झीलों में पानी निरंतर आता रहता है और कहीं-कहीं निकास की संभावना भी रहती है, जबकि खारे पानी की झीलों का पानी भाप बनकर उड़ता रहता है। इसके अलावा गरम पानी के झरने, हिमनद और गंधक से युक्त जलस्रोतों के रूप में भी छोटी-बड़ी झीलें होती हैं।

कृत्रिम झीलें आमतौर पर किसी क्षेत्र-विशेष की जल-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाई जाती हैं। ये झीलें मुख्यतौर पर सिंचाई, बिजली-उत्पादन, बाढ़-नियंत्रण तथा पेयजल की आपूर्ति जैसी आवश्यकताएं पूरी करने के उद्देश्य से निर्मित या विकसित की जाती हैं। अब पर्यटन और पिकनिक स्थल तैयार करने के उद्देश्य से भी झीलें विकसित की जा रही हैं। प्राकृतिक झीलें उच्च अक्षांश और पर्वतीय क्षेत्रों में अधिक पाई जाती हैं। इसके अलावा ग्लेशियर यानी हिमनद में, नदी के निचले सतही धरातल पर अथवा समुद्र के पास निचले क्षेत्र में भी झीलें होती हैं। झीलों की एक उपयोगिता यह भी है कि ये मौसम के अनुसार तापमान को नियंत्रित करती है। ये ग्रीष्म ऋतु में शीतलता और शीत ऋतु में उष्णता की वाहक हैं। बड़ी झीलें एक ओर वातावरण में नमी बनाए रखती हैं तो दूसरी ओर, अधिक वर्षा होने पर बहुत-से पानी को आत्मसात् कर लेती हैं, जिससे बाढ़ पर नियंत्रण होता है। इस प्रकार अपनी प्राकृतिक छटा से सौंदर्य-अनुभूति प्रदान करने के साथ-साथ झीलें मनुष्य के सुख-दुःख की साथी भी हैं। आजकल पर्यटन के कारण इनकी महत्ता तथा उपयोगिता और बढ़ गई है।

कैलाश मानसरोवर

सबसे पहले चर्चा करेंगे मानसरोवर की जो प्राकृतिक ही नहीं, सांस्कृतिक व

धार्मिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह सरोवर अब चीन के अधिकार-क्षेत्र में है किंतु परंपरागत आस्था और श्रद्धा के कारण यह भारतीय जनमानस का ही अंग है। पश्चिमी तिब्बत में स्थित कैलाश मानसरोवर झील 55 मील की परिधि में फैली हुई है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार यह स्थान महादेव शिव की क्रीड़ा-स्थली है। यह झील हिंदुओं के अलावा बौद्धों, जैनियों तथा लामाओं लिए भी पवित्र मानी जाती है। कैलाश मानसरोवर का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में भी मिलता है। ऐसी मान्यता है कि कैलाशा मानसरोवर की उत्पत्ति ब्रह्मा के मस्तिष्क से हुई। 2,028 फुट ऊंचे पिरामिड के आकार के कैलाश पर्वत की छाया जब मानसरोवर पर पड़ती है तो ऐसा लगता है मानो झील पर्वत को अपने आंचल में समा लेने को आतुर है। अपनी पवित्रता और उपयोगिता से भारत को उपकृत करने वाली चार नदियां सिंधु, ब्रह्मपुत्र, सतलुज और करनाली का उद्‌गम-स्रोत कैलाश पर्वत ही है। चीन सरकार की अनुमति से हर वर्ष सैकड़ों भारतीय कैलाश मानसरोवर की कठिन और दुर्गम तीर्थयात्रा पर जाते हैं। इस दृष्टि से मानसरोवर को झीलों की रानी कह सकते हैं।

उत्तर भारत की झीलें

भारत दक्षिण, पश्चिम और पूर्व तीनों ओर से समुद्र से घिरा है और केवल उत्तरी क्षेत्र सागर की अपार जलराशि के रोमांच से वंचित है। समुद्र का यह अभाव नदियों और झीलों ने पूरा कर दिया है। हिमालय पर्वत की छाया में बसे उत्तर भारत में बड़ी संख्या में प्राकृतिक तथा कृत्रिम झीलें प्राकृतिक छटा बिखेरने के साथ-साथ क्षेत्र के विकास में अमूल्य योगदान कर रही हैं।

भारत के मुकुट और पृथ्वी के स्वर्ग के नाम से अभिहित प्रदेश कश्मीर के बारे में तो कहा जाता है कि यह पहले झील मात्र ही था। जम्मू-कश्मीर की राजधानी और भारत का शीर्ष नगर श्रीनगर तो मानों झीलों की ही नगरी है। कश्मीर की वूलर झील एशिया की मीठे पानी की सबसे बड़ी झील है। झेलम नदी से लगभग 1578 मीटर की ऊंचाई पर स्थित इस झील का क्षेत्रफल करीब तीस किलोमीटर है, किंतु जब झेलम में बाढ़ आती है तो इसका दायरा 260 कि.मी. तक फैल जाता है। वूलर झील की एक विशेषता यह है कि दोपहर तक इसकी लहरें शांत रहती हैं परंतु दोपहर के बाद उग्र रूप धारण कर लेती हैं। झील की गहराई अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग है। कहीं-कहीं तो यह पांच मीटर तक गहरी है। प्राकृतिक सौंदर्य के कारण पर्यटकों का मन लुभाने के साथ-साथ

वूलर झील जम्मू-कश्मीर में जल-आपूर्ति भी करती है।

डल झील श्रीनगर की विश्वविख्यात झील है जो जम्मू-कश्मीर जाने वाले पर्यटकों के आकर्षण का मुख्य केंद्र है। लगभग बीस वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैली डल झील पहाड़ों में पाई जाने वाली सबसे बड़ी झीलों में गिनी जाती है। डल झील प्रकृति की एक अनुपम भेंट है। इसके तीन ओर मुगल बादशाहों द्वारा बनवाए गए विश्वप्रसिद्ध चश्माशाही बाग, निशात बाग और शालीमार बाग हैं। डल झील में शिकारों की यात्रा अपने-आपमें एक अनूठा अनुभव है। डल झील की लहरों पर तैरते शिकारे इसके सौंदर्य और आकर्षण को और बढ़ा देते हैं।

इनके अलावा जम्मू-कश्मीर में लगभग तीस अन्य छोटी-बड़ी प्राकृतिक व कृत्रिम झीलें हैं जो समूचे प्रदेश की शोभा बढ़ाती हैं। इनमें नगरीबल, हरबन, नगीना, शेषनाग, गडसर, तुतियल, खुशालसर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से अनेक झीलों पर तीज-त्योहार भी मनाए जाते हैं जिनके माध्यम से कश्मीर का इतिहास और संस्कृति जीवित हैं। इस प्रकार ये झीलें जहां एक ओर लोक-संस्कृति को परिरक्षित कर रही हैं वहीं विश्व-भर के पर्यटकों को अलौकिक आनंद की अनुभूति भी करा रही हैं।

जम्मू-कश्मीर से सटे राज्य हिमाचल प्रदेश में भी मनोरम पर्वत-शृंखला के साथ-साथ नदियों और झीलों का सौंदर्य चारों ओर बिखरा पड़ा है। प्राकृतिक झीलों में समुद्र-तट से 22 हजार फुट ऊंचाई पर स्थित रेणुका झील का प्रमुख स्थान है। मीठे पानी की यह मनोहारी झील तीन किलोमीटर लंबी और आधा किलोमीटर चौड़ी है। मानव आकार की इस झील के चारों ओर घने वृक्ष, हरे-भरे मैदान और रंग-बिरंगे फूलों के पौधे समूचे क्षेत्र की शोभा में चार चांद लगा देते हैं। रेणुका झील की गिनती तीर्थस्थलों में भी होती है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इसका नामकरण भगवान परशुराम की माता रेणुका के नाम पर हुआ है। रेणुका झील के निकट एक छोटी झील परशुराम ताल और परशुराम मंदिर भी है। रेणुका झील के तट पर चिड़ियाघर और पक्षीविहार भी हैं, जो वन्यप्राणी-प्रेमी पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। राज्य के मंडी नगर से 40 कि.मी. उत्तर पश्चिम में 4700 फुट की ऊंचाई पर पराशर झील है जो लगभग आधा किलोमीटर क्षेत्र में फैली है। पहाड़ियों के बीचोंबीच स्थित होने के कारण इसकी अपनी एक अलग प्राकृतिक विशिष्टता है। नाव के आकार की इस झील में एक टापू भी है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसका संबंध ऋषि पराशर से है।

हिमाचल प्रदेश में लगभग 20 अन्य प्राकृतिक झीलें हैं जिनमें रिवा लेक,

मणि चंद्रताल, नैनोर, भृगु और दसाहर झीलें प्रमुख हैं। बहुत कम लोग जानते हैं कि श्रीनगर की तरह कांगड़ा घाटी में भी कृत्रिम डल लेक नाम की झील है। धौलाधार श्रेणियों के बीच स्थित इस सुंदर झील के आसपास ट्रैकिंग की सुविधाएं उपलब्ध हैं।

सतलुज नदी पर बने भाखड़ा नांगल बांध परियोजना के अंतर्गत बनी विशाल गोविंदसागर झील उत्तर भारत के एक बड़े भूभाग में सिंचाई और बिजली आपूर्ति में सहायक है। इस झील से कुछ ही दूरी पर प्रसिद्ध नैनादेवी मंदिर और आनंदपुर साहिब हैं।

पंजाब और हरियाणा की राजधानी चंडीगढ़ की सुखना झील का देश की कृत्रिम झीलों में विशिष्ट स्थान है। इस झील को पर्यटन की दृष्टि से विकसित किया गया है। यहां नौका प्रतियोगिताएं होती है और झील के निचले हिस्से में गोल्फ का मैदान है। इस झील में नौका-चालन का अपना अलग ही आनंद है। झील के आसपास का क्षेत्र पक्षीविहार के रूप में विकसित किया जा रहा है।

हरियाणा में कुरुक्षेत्र का ब्रह्मसर धार्मिक और पौराणिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थल है। 1400 मीटर लंबे और 700 मीटर चौथे ब्रह्मसर का उल्लेख महाभारत में मिलता है। सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण के दौरान ब्रह्मसर में स्नान का विशेष महत्त्व है। ब्रह्मसर के आसपास अनेक भव्य मंदिर हैं। दिल्ली के करीब होने के कारण हरियाणा की बड़खल लेक तथा सूरजकुंड झील सैर-सपाटे और तफरीह के लिए उपयुक्त स्थान माने जाते हैं। चक्रवर्ती झील, कलायत झील, पवन झील आदि पंजाब तथा हरियाणा की अन्य मुख्य झीलें हैं।

उत्तरांचल में नैनीताल अपनी तरह की अति मनोरम और सुंदर झील है। 1500 मीटर लंबी, 510 मीटर चौड़ी तथा 30 मीटर गहरी नैनीताल झील का प्राकृतिक सौंदर्य पर्यटकों को मानो निरंतर आमंत्रित करता रहता है। पहाड़ियों से घिरे नैनीताल नगर का पौराणिक महत्त्व भी है। इस झील का जल पवित्र माना जाता है। पर्वतों से झांकते सूर्य की छाया जब झील की लहरों पर पड़ती है तो अत्यंत मनोरम दृश्य उपस्थित होता है। इसके आसपास भीमताल, सतताल, नौकुचिया ताल आदि कई छोटी झीलें हैं जो इस क्षेत्र को झीलों का क्षेत्र बनाती हैं।

राज्य के गढ़वाल क्षेत्र में भी अनेक प्राकृतिक झीलें इस पर्वतीय क्षेत्र के नैसर्गिक सौंदर्य एवं धार्मिक महात्म्य को बढ़ा देती है। इनमें हिमाचल और गढ़वाल की सीमा पर स्थित भटाइसर ताल, उत्तरकाशी से 39 कि.मी. दूर जोड़ीताल और

करीब 30 कि.मी. दूर नचिकेता झील, केदारनाथ से पांच कि.मी. दूर 2580 मीटर की ऊंचाई पर स्थित वासुकी ताल, सोनप्रयाग से केदारनाथ के मार्ग पर गौरीकुंड और ऋषिकेश से 75 कि.मी. दूर टिहरी में झील सरोवर शामिल है। इसी क्षेत्र में स्थित देवरिया ताल अपनी प्राकृतिक छटा से सैलानियों का मन मोह लेता है। कटोरे के आकार की यह झील 700 मीटर लंबी और 400 मीटर चौड़ी है। इसी के समीप नंदीकुंड झील और लोकपाल झीलें हैं। हेमकुंट इस क्षेत्र की एक और महत्त्वपूर्ण झील है। इसके आसपास के स्थान को हेमकुंट साहिब के नाम से जाना जाता है। लगभग 15,000 फुट की ऊंचाई पर स्थित इस हिमानी झील तक पहुंचने के लिए गोविंद घाट से 16 कि.मी. पैदल चलना पड़ता है। सिखों के लिए इस स्थान का धार्मिक महत्त्व है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि दशम गुरु गोविंदसिंहजी ने अपने पूर्वजन्म में यहां तपस्या की थी। यहां पर गुरुद्वारा भी बना हुआ है। हेमकुंट के समीप एक छोटा-सा लक्ष्मण मंदिर भी है।

उत्तरांचल में अन्य अनेक झीलें भी प्राकृतिक तथा धार्मिक महत्त्व के कारण दर्शनीय हैं। इनमें सहस्र ताल, केदार ताल, सप्तऋषि ताल, चंद्रकुंड झील, पार्वती सरोवर, ब्रह्मताल और रूपकुंड झील उल्लेखनीय हैं।

उत्तरप्रदेश में आगरा-मथुरा मार्ग पर सूर सरोवर एक रमणीय झील है। सूरदास वन से घिरी और 25 कि.मी. क्षेत्र में फैली इस झील में पक्षियों की विभिन्न प्रजातियां पाई जाती हैं। इस झील को पर्यटन स्थल के रूप में विकसित किया जा रहा है।

मध्यप्रदेश में यों तो अनेक झीलें, ताल और कुंड हैं, किंतु भोपाल और सागर शहरों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। भोपाल शहर के तो बीचोंबीच दो झीलें हैं। इनमें एक बड़ी झील है जो 6 कि.मी. तक तथा दूसरी छोटी झील है जो 2 कि.मी. तक फैली है। शाम को रोशनी से जगमगाते भोपाल नगर का प्रतिबिंब झील में अत्यंत नयनाभिराम दृश्य उपस्थित करता है। सागर झील विशाल समुद्र-सी इठलाती और लहराती प्रतीत होती है। इसका विस्तार पहले 6000 एकड़ था जो घटता-घटता अब केवल 600 एकड़ रह गया है। बांध झील, भदैया झील, दौहता झील, रेवाकुंड और भीमकुंड मध्यप्रदेश की अन्य उल्लेखनीय झीलें हैं।

पश्चिम भारत की झीलें

राजस्थान का बहुत बड़ा भाग मरुक्षेत्र है किंतु यह प्रदेश अपने-आपमें झीलों की

अपार संपदा समेटे हुए है। अनेक प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित विशालाकार झीलें यहां के पर्यटन व्यवसाय को बढ़ावा देने में भी सहायक सिद्ध हो रही हैं।

राजस्थान की राजधानी जयपुर से 64 कि.मी. पश्चिम में नमकीन पानी की प्रसिद्ध सांभर झील है। यह 32 कि.मी. लंबी है। गर्मियों में यह झील लगभग सूख जाती है। अजमेर का पुष्कर सरोवर राज्य की प्रमुख झीलों में से एक है। पुष्कर का धार्मिक एवं पौराणिक महत्त्व भी है। यह देशी-विदेशी पर्यटकों को भी आकर्षित करता है। यहां ब्रह्माजी का मंदिर श्रद्धालुओं की आस्था का केंद्र है। कहते हैं कि पुष्कर के सिवाय और कहीं भी ब्रह्माजी का मंदिर नहीं है। पुष्कर झील के आसपास लगभग 400 मंदिर हैं जिनसे अरावली पर्वतमाला के बीच बनी इस झील का सौंदर्य और आकर्षण कई गुना बढ़ जाता है।

अजमेर में ही आना सागर अत्यंत मनोरम झील है। इस कृत्रिम झील का निर्माण 1137 में पृथ्वीराज के पितामह आनाजी ने कराया था। इस झील से अजमेर शहर में पीने के पानी की आपूर्ति होती है। 1637 में इस झील के किनारे शाहजहां ने दौलत बाग बनाया, जिससे झील का सौंदर्य और बढ़ गया।

उदयपुर की पिछौला झील का राजस्थान की झीलों में उल्लेखनीय स्थान है। अरावली पर्वत-श्रेणी के बीच स्थित इस मानव-निर्मित झील के मध्य में जयमंदिर और जयनिवास महल बने हुए हैं जो झील में तैरते पोत का आभास देते हैं। इसके पूर्वी किनारे पर स्थित सिटी पैलेस और दक्षिणी छोर पर बना उद्यान क्षेत्र को अद्‌भुत सौंदर्य प्रदान करते हैं। राजस्थान का सबसे बड़ा राजप्रासाद इसी झील के किनारे स्थित है। अपनी ऐतिहासिकता, उत्कृष्टता, वास्तुकला और प्राकृतिक सौंदर्य के कारण यह झील पर्यटकों को निरंतर लुभाती रहती है।

राजसमुंद झील, जयसमंद झील, उदयसागर, जलमहल और फतेहसागर आदि अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण झीलों के कारण राजस्थान झीलों का प्रदेश कहलाता है।

गुजरात में बहुत कम झीलें हैं, परंतु राज्य की राजधानी और मध्यकाल के ऐतिहासिक नगर अहमदाबाद में कांकरिया झील अपनी भव्यता और सुंदरता के लिए विख्यात है। इसका निर्माण 1451 में कुतुबुद्दीन ने कराया था। हरे-भरे उद्यानों से घिरी इस अद्‌भुत झील के 34 कोण हैं। झील के किनारे बने चिड़ियाघर और मछलीघर से इस कृत्रिम झील का पर्यटन महत्त्व और बढ़ गया है।

अहमदाबाद से लगभग 70 कि.मी. दूर जल सरोवर नाम की मनोरम झील है, जो प्रवासी पक्षियों की भी शरणस्थली है। इसका क्षेत्रफल करीब 110 कि.मी.

है। बड़ोदरा जिले की सूरसागर झील, जामनगर की सिटी झील, नवनगर की सौराष्ट्र झील और राजकोट की लालपरी झील गुजरात की अन्य उल्लेखनीय झीलें हैं।

पड़ोसी राज्य महाराष्ट्र में अनेक झीलें हैं। पर्वतीय पर्यटन स्थल महाबलेश्वर की वेन्ना झील की गिनती राज्य की सुंदरतम झीलों में होती है। 24 कि.मी. क्षेत्र में फैली यह झील नौका-विहार के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। महाराष्ट्र की लोलार झील की विशेषता यह है कि इसका मुहाना गोलाई में है। खारे पानी की इस झील की गहराई 100 मीटर है, लेकिन इसकी वास्तविक गहराई 50 मीटर ही है क्योंकि 50 मीटर गहराई तलछट से भरी है। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि इस झील की उत्पत्ति बुझे हुए ज्वालामुखी के गर्त से हुई होगी।

मुंबई नगर के निकट बनी पवई झील भी पर्यटन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इससे केवल 2 कि.मी. दूर विहार झील नाम की एक बड़ी झील है। मुंबई नगर के लिए पेयजल की सप्लाई इसी झील से की जाती है। इस झील का एक आकर्षक पहलू यह है कि इसके किनारे बने बांध से बरसाती झरनों के रूप में पानी गिरता रहता है जिससे अत्यंत मनोरम दृश्य उपस्थित होता है। इसी कारण यह स्थान मुंबई महानगर के लोगों के लिए पिकनिक स्थल बन गया है। मुंबई की लांसर झील भी प्राकृतिक सौंदर्य के आनंद के साथ-साथ नगर के लिए पेयजल का एक मुख्य स्रोत है। पूना-नासिक मार्ग पर स्थित इस झील से केवल 7 कि.मी. दूरी पर वैतरणी झील है। मुंबई से करीब 25 कि.मी. दूर तुलसी झील का सौंदर्य देखा जा सकता है जो आकार में तो छोटी है, किंतु प्राकृतिक छटा के हिसाब से राज्य की सभी झीलों पर भारी पड़ती है। नासिक जिले में कुशावत सरोवर धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसमें दक्षिण की गंगा मानी जाने वाली गोदावरी नदी का जल आता है। इससे जुड़ा एक रोचक तथ्य यह है कि इस झील में स्नान करने की बजाय वहां से जल लेकर बाहर नहाना श्रेयस्कर समझा जाता है। प्रसिद्ध त्र्यंबकेश्वर मंदिर इसी सरोवर के तट पर है। नासिक का कुंभ मेला इसी स्थान पर लगता है। महाराष्ट्र की अन्य झीलों में कोल्हापुर की टंकाला झील, नागपुर की गांधीसागर तथा खंडाला की तुंगराली, भूसि और लोनावाला झीलें शामिल हैं।

पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भारत की झीलें

देश के पूर्वी राज्यों में झीलों की संख्या की दृष्टि से उड़ीसा का विशेष स्थान है।

उड़ीसा की विशालतम झील विश्वप्रसिद्ध चिलका झील है जो पुरी के दक्षिण में स्थित है। नाशपाती के आकार की इस रमणीय झील को 150 से अधिक प्रजातियों के प्रवासी पक्षी अपनी क्रीड़ाओं से अभिभूत करते हैं। इस प्राकृतिक झील की लंबाई 70 कि.मी. और चौड़ाई 52 कि.मी. है। बालू की एक छोटी-सी ढेरी इस झील को समुद्र से पृथक करती है।

भुवनेश्वर की बिंदुसागर झील भी राज्य की सुंदरतम झीलों में से एक है। 1300 फुट लंबी और 700 फुट चौड़ी इस झील का निर्माण 13वीं सदी में हुआ था। बताया जाता है कि प्रारंभ में इस झील के चारों ओर 7000 मंदिर हुआ करते थे। प्रसिद्ध लिंगराज मंदिर इसी झील के किनारे है। कोणार्क से केवल 3 कि.मी. दूरी पर चंद्रभागा झील है जो चंद्रभागा नदी का अवशेष है। यह सरोवर अत्यंत पवित्र माना जाता है। इसका संबंध भगवान कृष्ण से है।

पश्चिम बंगाल में रवींद्र सरोवर का कृत्रिम झीलों में प्रमुख स्थान है। कवींद्र रवींद्र के नाम पर बनी यह झील खजूर के पेड़ों से घिरी हुई है और नौकायन की दृष्टि से उपयुक्त मानी जाती है। मुर्शिदाबाद की मोती झील भी काफी खूबसूरत है। दार्जिलिंग की संदल और मिरिक झीलें प्राकृतिक सौंदर्य की अनुपम सौगात हैं। मिरिक झील तो अपने आकार और परिवेश से नैनीताल की याद दिला देती है। नयनाभिराम पहाड़ियों से घिरी इस झील का दायरा करीब 3 कि.मी. है।

बिहार की सीमा से लगी दामोदर घाटी परियोजना से बनी विशाल मैथम डैम झील नैसर्गिक सुषमा तथा उपयोगिता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

बिहार झारखंड क्षेत्र में पटना-हावड़ा रेलमार्ग पर जसडीह में शिवगंगा सरोवर एक पवित्र झील है जिसका संबंध रामायण से है। रांची झील और मोतीहारी नगर की प्रसिद्ध झील भी इस क्षेत्र की मुख्य झीलें हैं। इसके अलावा उड़ीसा की प्रसिद्ध चिलका झील के लघु संस्करण के रूप में धनबाद में भी एक छोटी-सी चिलका झील है। बोधगया में ब्रह्मसरोवर एक पवित्र झील है। यहां लोग धार्मिक आस्था के कारण जाते हैं।

पूर्वोत्तर क्षेत्र में असम में शिवसागर ताल अपनी ऐतिहासिक और प्राकृतिक सुंदरता के कारण समूचे क्षेत्र में विख्यात है। इस ताल का जलस्तर आसपास की भूमि से ऊंचा है। सर्दियों में साइबेरिया के सारस इसे अपना निवास स्थान बना लेते हैं। झील के किनारे अनेक मंदिर भी हैं। यहां से केवल 5 कि.मी. दूर कृत्रिम झील जयसागर है, जिसे 1697 में राजा रुद्रसिंह ने बनवाया था। शिवसागर से 12 कि.मी. दूर एक और झील रुद्रसागर झील है जिसका निर्माण 1733 में राजा रुद्र

है। बड़ोदरा जिले की सूरसागर झील, जामनगर की सिटी झील, नवनगर की सौराष्ट्र झील और राजकोट की लालपरी झील गुजरात की अन्य उल्लेखनीय झीलें हैं।

पड़ोसी राज्य महाराष्ट्र में अनेक झीलें हैं। पर्वतीय पर्यटन स्थल महाबलेश्वर की वेन्ना झील की गिनती राज्य की सुंदरतम झीलों में होती है। 24 कि.मी. क्षेत्र में फैली यह झील नौका-विहार के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। महाराष्ट्र की लोलार झील की विशेषता यह है कि इसका मुहाना गोलाई में है। खारे पानी की इस झील की गहराई 100 मीटर है, लेकिन इसकी वास्तविक गहराई 50 मीटर ही है क्योंकि 50 मीटर गहराई तलछट से भरी है। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि इस झील की उत्पत्ति बुझे हुए ज्वालामुखी के गर्त से हुई होगी।

मुंबई नगर के निकट बनी पवई झील भी पर्यटन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इससे केवल 2 कि.मी. दूर विहार झील नाम की एक बड़ी झील है। मुंबई नगर के लिए पेयजल की सप्लाई इसी झील से की जाती है। इस झील का एक आकर्षक पहलू यह है कि इसके किनारे बने बांध से बरसाती झरनों के रूप में पानी गिरता रहता है जिससे अत्यंत मनोरम दृश्य उपस्थित होता है। इसी कारण यह स्थान मुंबई महानगर के लोगों के लिए पिकनिक स्थल बन गया है। मुंबई की लांसर झील भी प्राकृतिक सौंदर्य के आनंद के साथ-साथ नगर के लिए पेयजल का एक मुख्य स्रोत है। पूना-नासिक मार्ग पर स्थित इस झील से केवल 7 कि.मी. दूरी पर वैतरणी झील है। मुंबई से करीब 25 कि.मी. दूर तुलसी झील का सौंदर्य देखा जा सकता है जो आकार में तो छोटी है, किंतु प्राकृतिक छटा के हिसाब से राज्य की सभी झीलों पर भारी पड़ती है। नासिक जिले में कुशावत सरोवर धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसमें दक्षिण की गंगा मानी जाने वाली गोदावरी नदी का जल आता है। इससे जुड़ा एक रोचक तथ्य यह है कि इस झील में स्नान करने की बजाय वहां से जल लेकर बाहर नहाना श्रेयस्कर समझा जाता है। प्रसिद्ध त्र्यंबकेश्वर मंदिर इसी सरोवर के तट पर है। नासिक का कुंभ मेला इसी स्थान पर लगता है। महाराष्ट्र की अन्य झीलों में कोल्हापुर की टंकाला झील, नागपुर की गांधीसागर तथा खंडाला की तुंगराली, भूसि और लोनावाला झीलें शामिल हैं।

पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भारत की झीलें

देश के पूर्वी राज्यों में झीलों की संख्या की दृष्टि से उड़ीसा का विशेष स्थान है।

उड़ीसा की विशालतम झील विश्वप्रसिद्ध चिलका झील है जो पुरी के दक्षिण में स्थित है। नाशपाती के आकार की इस रमणीय झील को 150 से अधिक प्रजातियों के प्रवासी पक्षी अपनी क्रीड़ाओं से अभिभूत करते हैं। इस प्राकृतिक झील की लंबाई 70 कि.मी. और चौड़ाई 52 कि.मी. है। बालू की एक छोटी-सी ढेरी इस झील को समुद्र से पृथक करती है।

भुवनेश्वर की बिंदुसागर झील भी राज्य की सुंदरतम झीलों में से एक है। 1300 फुट लंबी और 700 फुट चौड़ी इस झील का निर्माण 13वीं सदी में हुआ था। बताया जाता है कि प्रारंभ में इस झील के चारों ओर 7000 मंदिर हुआ करते थे। प्रसिद्ध लिंगराज मंदिर इसी झील के किनारे है। कोणार्क से केवल 3 कि.मी. दूरी पर चंद्रभागा झील है जो चंद्रभागा नदी का अवशेष है। यह सरोवर अत्यंत पवित्र माना जाता है। इसका संबंध भगवान कृष्ण से है।

पश्चिम बंगाल में रवींद्र सरोवर का कृत्रिम झीलों में प्रमुख स्थान है। कवींद्र रवींद्र के नाम पर बनी यह झील खजूर के पेड़ों से घिरी हुई है और नौकायन की दृष्टि से उपयुक्त मानी जाती है। मुर्शिदाबाद की मोती झील भी काफी खूबसूरत है। दार्जिलिंग की संदल और मिरिक झीलें प्राकृतिक सौंदर्य की अनुपम सौगात हैं। मिरिक झील तो अपने आकार और परिवेश से नैनीताल की याद दिला देती है। नयनाभिराम पहाड़ियों से घिरी इस झील का दायरा करीब 3 कि.मी. है।

बिहार की सीमा से लगी दामोदर घाटी परियोजना से बनी विशाल मैथम डैम झील नैसर्गिक सुषमा तथा उपयोगिता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

बिहार झारखंड क्षेत्र में पटना-हावड़ा रेलमार्ग पर जसडीह में शिवगंगा सरोवर एक पवित्र झील है जिसका संबंध रामायण से है। रांची झील और मोतीहारी नगर की प्रसिद्ध झील भी इस क्षेत्र की मुख्य झीलें हैं। इसके अलावा उड़ीसा की प्रसिद्ध चिलका झील के लघु संस्करण के रूप में धनबाद में भी एक छोटी-सी चिलका झील है। बोधगया में ब्रह्मसरोवर एक पवित्र झील है। यहां लोग धार्मिक आस्था के कारण जाते हैं।

पूर्वोत्तर क्षेत्र में असम में शिवसागर ताल अपनी ऐतिहासिक और प्राकृतिक सुंदरता के कारण समूचे क्षेत्र में विख्यात है। इस ताल का जलस्तर आसपास की भूमि से ऊंचा है। सर्दियों में साइबेरिया के सारस इसे अपना निवास स्थान बना लेते हैं। झील के किनारे अनेक मंदिर भी हैं। यहां से केवल 5 कि.मी. दूर कृत्रिम झील जयसागर है, जिसे 1697 में राजा रुद्रसिंह ने बनवाया था। शिवसागर से 12 कि.मी. दूर एक और झील रुद्रसागर झील है जिसका निर्माण 1733 में राजा रुद्र

सिंह के पुत्र लक्ष्मी सिंह ने कराया था। बाद में यहीं पर गौरीसागर झील बनवाई गई। गुवाहाटी से 64 कि.मी. दूर चंदुवी झील है जिसे पिकनिक स्थल के रूप में विकसित किया गया है। मेघालय में शिलंग की बार्डस झील को शिलंग नगर की शोभा माना जाता है। यह स्थान पूर्वोत्तर क्षेत्र के प्रमुख पिकनिक स्थलों में गिना जाता है। इसके निकट वनस्पति उद्यान और संग्रहालय के अलावा सिरोनोलिन जलप्रपात भी है।

दक्षिण भारत की झीलें

दक्षिण भारत में प्राकृतिक तथा कृत्रिम झीलों का जाल बिछा हुआ है। आधुनिक युग में कृत्रिम झीलों का निर्माण दक्षिण भारत से ही शुरू हुआ। कर्नाटक की कृष्ण सागर झील स्थापत्य-कला की श्रेष्ठता का अद्‌भुत उदाहरण है। मजेदार बात यह है कि इस जलाशय तथा बांध के निर्माण में सीमेंट का इस्तेमाल बिलकुल नहीं किया गया। बंगलौर के पास स्थित पंपासरोवर का संबंध रामकथा से जुड़ा है। इसी के समीप सीतासरोवर और मानसरोवर हैं। पंपासरोवर को दक्षिण का कैलाश मानसरोवर माना जाता है। बंगलौर की मोती झील पर्वत के अंचल में जड़े मोती जैसी प्रतीत होती है। इसमें पानी दो पहाड़ी झरनों से आता है। बंगलौर से लगभग 30 कि.मी. दूर हेमारघाट झील कर्नाटक के प्रमुख दर्शनीय स्थलों में से एक है। लगभग 1000 एकड़ में फैली इस विशाल झील के निकट ही चामराज सागर है। बंगलौर की सैंकी और उल्सूर झीलें नौकायन करने वालों के आकर्षण का केंद्र हैं।

आंध्र प्रदेश के हुसैन सागर का कृत्रिम झीलों में विशिष्ट स्थान है। 1562 में बनी इस झील ने हैदराबाद नगर को दो भागों हैदराबाद और सिकंदराबाद में बांटा हुआ है। प्राकृतिक छटा के साथ-साथ नौका-विहार की उत्कृष्ट सुविधाओं के कारण भी यह झील पसंद की जाती है। हैदराबाद में ही मीठे पानी की कोल्लेरू झील प्रकृति की एक बेजोड़ धरोहर है। यहां कई प्रकार के जलजंतु पाए जाते हैं। 14,000 हैक्टेयर क्षेत्र में फैली इस झील का सौंदर्य और बढ़ाने की योजना है।

हैदराबाद से लगभग 20 कि.मी. पर बनी उस्मान सागर झील 46 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में फैली आंध्र प्रदेश की एक प्रमुख मानव-निर्मित झील है। यह पिकनिक की दृष्टि से आदर्श झील है। हिमायत सागर, मीर आलम टैंक, नागार्जुन सागर, रामप्पा झील और पाखल झील आंध्र प्रदेश की अन्य प्रमुख झीलें हैं।

केरल को नदियों का प्रदेश माना जाता है। यहां झीलें बहुत कम है। किंतु यहां की पेरियार झील देश की सबसे अधिक सुव्यवस्थित झील है। 24 वर्ग कि.मी. में फैली यह झील पेरियार नदी पर बांध के निर्माण के फलस्वरूप बनी। केरल और तमिलनाडु के बहुत बड़े क्षेत्र को सिंचाई जल तथा बिजली उपलब्ध कराने के साथ-साथ यह झील पर्यटकों का स्वर्ग कही जाती है।

तमिलनाडु के कृष्णा जिले की कोलेरू झील स्वच्छ जल की विशाल झील है। इसका व्यास वर्षा ऋतु में 250 वर्ग कि.मी. तक फैल जाता है। मदुरै से 120 कि.मी. दूर पलानी पहाड़ियों में सितारे के आकार की कोडाईकनाल झील अपनी प्राकृतिक छटा और आसपास बने भव्य मंदिरों के कारण हर प्रकार के पर्यटकों को आकर्षित करती है। इस झील के कारण यह समूचा क्षेत्र आदर्श पर्यटन स्थल के रूप में विकसित हो चुका है। यहां अंतरराष्ट्रीय स्तर की पर्यटन सुविधाएं मौजूद हैं। राज्य के विश्वप्रसिद्ध पर्वतीय स्थल ऊटी या उदकमंडलम में इसी नाम की एक सुंदर झील है। यह मछली पकड़ने तथा नौका-विहार के लिए उपयुक्त है।

राज्य की कुंभकोणम झील का उल्लेख पुराणों में मिलता है। यहां हर 12 वर्ष बाद कुंभ मेला लगता है। इसके किनारे अनेक मंदिर हैं। शेवरियन पर्वत-श्रृंखला में वनों से आच्छादित येरी झील अपने अद्वितीय नैसर्गिक सौंदर्य के लिए विख्यात है। एक सुंदर पर्यटन स्थल के रूप में विकसित की जा रही इस झील में एक छोटा-सा मनोरम टापू भी है। लेक गार्डन, होबार्ट झील, मछलीकुंड झील, पांचकरा झील, शिवगंगा वापिका, बेरीजन झील और पुलीकेट झील तमिलनाडु की अन्य महत्त्वपूर्ण झीलें हैं।

समूचे भारत में धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक सौरभ बिखेरती ये झीलें देश के सामाजिक व आर्थिक विकास में भी मूल्यवान योगदान कर रही हैं। झील, सरोवर, ताल, जलाशय आदि नामों से अभिहित होने वाले ये जलस्रोत सचमुच भारत की सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक गरिमा को प्रतिबिंबित करने के साथ-साथ देश के विकास को भी गति दे रहे हैं। हमें ध्यान रखना होगा कि हमारी यह अमूल्य धरोहर प्रगति की आड़ में फैल रहे प्रदूषण के प्रहार से बची रहे।

भावात्मक और आध्यात्मिक अनुभूति के स्रोत : समुद्री तट

हिममंडित पर्वतमालाएं, हरी-भरी घाटियां, दूर-दूर तक फैले घास के मैदान, अठखेलियां करते समुद्र, वनस्पति के शृंगार एवं वन्य प्राणियों के संगीत से गूंजते वनप्रांतर तथा जीवन और गति को रूपायित करती महानदियां—इन सभी का दर्शन और सामीप्य मन के द्वारों पर मीठी दस्तक देते हुए ऐसी अनुभूति का आस्वादन कराता है जो विशुद्ध लौकिक होते हुए भी अलौकिक प्रतीत होता है। इस प्रकार इन प्राकृतिक स्थलों की यात्रा अपने बाह्य रूप में भौतिक गतिविधि होते हुए भी प्रभाव और आस्वाद में एक भावात्मक तथा आध्यात्मिक अनुभव है।

इन दिनों पर्यटकों के लिए रहने-खाने और घूमने-फिरने की सुविधाजनक एवं ऐश्वर्ययुक्त व्यवस्थाओं के जोर-शोर के कारण बहुत-से लोग अकसर मान बैठते हैं कि पर्यटन भौतिक तथा शारीरिक सुख एवं भोग का साधन है। किंतु यह धारण मंदिर के गुंबद को प्रतिमा मान लेने सरीखी भ्रांति है। भौतिक सुविधाएं तो प्रकृति एवं अतीत से हमारे मिलन के आध्यात्मिक आनंद को और गहन एवं व्यापक बनाने के सहायक उपकरण मात्र है। होटल, सड़कें, रेलगाड़ियां, विमान, कारें, बसें आदि पर्यटन रूपी काया के अनिवार्य अंग है। परंतु उसके प्राणतत्त्व हैं वे स्थल, जिन तक पहुंचने और जिन्हें देखने व घूमने के लिए इन सुविधाओं का सहारा लिया जाता है।

पर्यटन के बुनियादी अवयवों यानी पर्यटकों के आकर्षण के केंद्रों के आधार पर देखा जाए तो भारत को छोड़कर दुनिया का शायद ही कोई ऐसा देश होगा, जहां सैलानियों को वर्ष के किसी भी महीने में पर्वत, नदियां, रेगिस्तान और समुद्री तट अपनी ओर लुभाते हुए दिखाई देते हों।

समुद्र अपने अप्रतिम सौंदर्य, गरिमा और शीतलता के कारण चिरकाल से सैलानियों को अपनी ओर आकर्षित करता आया है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि समुद्र स्वभाव से चंचल है। आपके चित्त के साथ जितना यह खिलवाड़ करता है उतना और कोई नहीं। समुद्रतटों की रेत को गले लगाने के लिए जब इसकी नीली लहरें दौड़ती हैं तो वे आपको एक विचित्र संगीत के साथ अपनी

ओर बुलाती प्रतीत होती हैं। इस पुकार को अनसुना करना किसी के लिए भी संभव नहीं। इसलिए आप सहज ही उस संगीत की ओर बढ़ने लगते हैं। सूर्योदय होने पर जब आकाश में सुनहरे रंग की विभिन्न छायाएं उभरती हैं तो वहां छितराए बादलों के झुंड नारंगी, सुनहरा और लौ जैसा लाल रंग ग्रहण कर लेते हैं। रेत के जिस हिस्से का लहरें स्पर्श करके जाती हैं वह कुछ समय तक गीला रहता है। इस हिस्से पर उदय होते सूर्य के प्रतिबिंब एकदम विशुद्ध और मौलिक होते हैं। ऐसा लगता है जैसे आपको सोना मिल गया हो। किंतु इस सोने का भोग केवल आंखों से किया जा सकता है।

समुद्र की यही तो विशेषता है कि वह आपको पहले बुलाता है और फिर लुभा लेता है। समुद्र की लहरों को देखने से अधिक आनंद उनके स्पर्श और उनके साथ खेलने में हैं। लहरों के साथ यह आमोद-प्रमोद अनोखा है क्योंकि चंचल लहरें पहले तो आपको तट की ओर धकेलती हैं और समुद्र की ओर लौटते हुए आपको अपनी ओर खींचती हैं। वास्तविक आनंद लेना हो तो थककर आप तट पर लेटे रहें और लहरों को अपने ऊपर से आने-जाने दें। ऊपर सूर्य की बढ़ती ऊष्मा का ताप और नीचे चंचल लहरों की शीतलता, भला इससे अधिक गहन आनंद की कल्पना संभव है?

इसीलिए तो समुद्र के किनारे बसे शहर शानदार रंगों से चमकते उन रत्नों जैसे हैं जिन्हें मानो समुद्र ने तट पर फेंक दिया हो। आइए, जरा इन रमणीय स्थलों पर घूमकर समुद्र तथा नगर दोनों के जादू को महसूस करें।

यहां पश्चिम, पूर्व तथा दक्षिण के प्रमुख समुद्रतटों और उन पर बसे कुछ प्रसिद्ध नगरों की विशेषताओं, इतिहास, दर्शनीय स्थलों आदि पर प्रकाश डाला जा रहा है। पश्चिमी भारत के समुद्रतटों—गोवा, दीव, दमण, पूर्वी भारत के पुरी और चिलका तथा दक्षिण भारत के त्रिवेंद्रम, कोचीन, कोट्टायम, कन्याकुमारी और लक्षद्वीप का परिचय दिया जा रहा है।

गोवा

सबसे पहले समुद्री तटों के सम्राट गोवा की ओर बढ़ें। अरब सागर की गोद में बसा गोवा एक बहुमूल्य खजाने की तरह है। यह गोवा ही है जहां पूर्व और पश्चिम रूडयार्ड किपलिंग के कथन को असत्य साबित करते हुए एक-दूसरे से मिलते हैं। इस संस्कृति-संगम की गूंज गिरजाघरों की प्रार्थना और मंदिरों की आरती से उभरते भक्ति-संगीत में सुनी जा सकती है। गोवा का इतिहास विष्णु के छठे

अवतार भगवान परशुराम से जुड़ा है। ऐसी मान्यता है कि परशुराम ने अरब सागर में सह्याद्रि पर्वत से बाण छोड़कर समुद्र को लौट जाने का आदेश दिया। उनका बाण पाशुपतास्त्र बाणहल्लि (वर्तमान लेनोलिम) में गिरा, जहां गोवा आबाद हुआ। आज का गोवा अतीत और वर्तमान का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। गोवा के सुनहरे समुद्रतट वहां आने वालों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। यह मुंबई से 588 कि.मी. तथा नई दिल्ली से 1870 कि.मी. दूर है। यहां के दर्शनीय नगरों में पणजी, वास्को, मापुसा, मारमगोआ बंदरगाह प्रमुख है। जो समुद्रतट यानी 'बीच' विश्व-भर के पर्यटकों को आमंत्रित करते हैं, उनमें कलगुटे, कोलवा बीच, मीरामार, अंजुना, अरंबोल, अगुवाड़ा और पलोलेम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गोआ में केवल समुद्र की लहरें और तटों की सुंदरता ही नहीं, सांस्कृतिक विविधता तथा अतीत के वैभव की याद दिलाने वाले मंदिर और गिरजाघर भी आगंतुकों का स्वागत करते हैं।

बेस्सलीका आफ जीसस सोलहवीं शताब्दी में बना गिरजाघर है जो गोवा के सभी गिरजाघरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। इसके अलावा सेंट कैथेड्रल यहां का सबसे बड़ा गिरजाघर है। चर्च आफ स्पेन, सेंट काजेटन गिरजाघर, ननरी आफ सांता मोनिका, चर्च आफ सेंट एलेक्स, चर्च आफ सेंट अना जैसे अनेक अन्य गिरजाघर धार्मिक आस्था और अद्‌भुत वास्तुकला के संगम के रूप में गोवा की शान बढ़ा रहे हैं। गोवा में श्री भगवती मंदिर, रुद्रेश्वर मंदिर, श्री महादेव भूमिका, मोरजई मंदिर, ब्रह्ममंदिर आदि 25 मंदिर हैं, जिनके दर्शन किए जा सकते हैं। गोआ के अन्य दर्शनीय स्थल हैं—अगुवाड़ा किला, दूधसागर जलप्रपात, बोंधला वन तथा चिड़ियाघर, केसरवाल झरना, मयंक झील, दि बिग फुट, लोतुलिम उद्यान, संग्रहालय तथा कलादीर्घाएं।

दीव

दीव भारत के पश्चिमी तट पर स्थित अत्यंत सुंदर द्वीप है जिसे परियों का टापू भी कहा जाता है। कुछ वर्ष पहले तक यह गोआ का ही भाग था। इस टापू का क्षेत्रफल केवल 39 वर्ग किलोमीटर है। यहां के 21 कि.मी. लंबे समुद्रतट पर लहरों में हमेशा उछाल रहा है। प्राचीनकाल में दीव पर राजा जालंधर का शासन था जिसकी कहानी उनके मंदिर के अवशेषों पर अंकित है। 1380 में मुस्लिम शासकों ने यहां पर चंदा और वाघेला राजपूतों का शासन समाप्त किया। उस समय दीव की गणना सबसे अच्छे बंदरगाहों और नौसैनिक अड्डों में होती थी। 1504 में

यहां आए इटली के यात्री लुदोविती द वर्तेरमा ने दीव को बंदर आतुर्क बताया है। उस समय तुर्की के साथ यहां से काफी व्यापार होता था। मुगल शासकों ने गुजरात के सुलतान बहादुरशाह पर हमला किया। सुलतान ने उनसे मुकाबला करने के लिए पुर्तगालियों के साथ संधि की। इसके बाद धीरे-धीरे दीव क्षेत्र पुर्तगालियों के हाथ में चला गया।

अब दीव एक शानदार पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध है। यहां के मुख्य दर्शनीय स्थल हैं— दीव फोर्ट, फोर्टम डूमार (पानी कोठा) नगोआ बीच, चक्रतीर्थ बीच, वनकबाड़ा, बुचरबाड़ा, गंगेश्वर मंदिर, गुदाम गांव, सेंट पाल गिरजाघर, दीव संग्रहालय और पक्षी अभयारण्य।

दमण

भारत के पश्चिमी तट पर कोलक और कलई नदियों के बीच स्थित यह टापू लघु पुर्तगाल माना जाता है। दीव की तरह दमण भी पहले गोवा का ही अंग था किंतु अब यह अलग केंद्रशासित प्रदेश है। सह्याद्रि पर्वत-शृंखला से निकली दमण गंगा नदी इस क्षेत्र को दो भागों मे विभाजित करती है। दमण प्राचीनकाल से सामरिक महत्त्व का स्थल रहा है। इस क्षेत्र पर एबीसियाई मुखिया सिद्द बापित का शासन रहा। इसके बाद पुर्तगालियों ने इस पर कब्जा कर लिया और लगभग साढ़े चार सौ वर्ष तक यहां राज किया।

पुर्तगालियों द्वारा बनाए गए मोती दमण और नानी दमण किले तथा कई शानदार गिरजाघर यहां आने वालों का मन मोह लेते हैं। कई सौ साल पहले बना मोती दमण दुर्ग का प्रकाशस्तंभ अब भी समुद्र में मछुआरों को राह दिखाता है। दमण के तीन समुद्रतट अपने-आपमें अनूठे हैं। नानी दमण के समुद्रतट पर स्थानीय मछुआरों तथा उनके रहन-सहन की वास्तविक झलक मिलती है। देवका समुद्रतट चट्टानी है और यहां पिकनिक मनाने वालों का मेला लगा रहता है। तीसरा समुद्रतट जामपुर शांत स्थान है और यहां वृक्षों और समुद्री लहरों के साथ-साथ केंकड़े भी आपका स्वागत करते हैं।

दमण के दर्शनीय स्थलों में मोती दमण दुर्ग, नानी दमण दुर्ग, प्रकाशस्तंभ, देवका समुद्रतट, जामपुर समुद्रतट, नानी दमण समुद्रतट, बोम जीसस गिरजाघर, साल्ट पैंस, कच्चीगम पार्क आदि प्रमुख हैं।

दमण नई दिल्ली से लगभग 1221 कि.मी. दूर है और पर्यटन सुविधाओं

की दृष्टि से अत्यंत विकसित स्थान है।

अब चलते है पूर्व के समुद्रतटों की ओर।

पुरी

पर्वों की नगरी पुरी हिंदुओं के चार पवित्र धामों में से एक है। बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित यह विश्व के सुंदरतम तटों में से एक है। जगन्नाथ मंदिर का पुरी के जनजीवन पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भारत का और कोंई भी ऐसा शहर नहीं होगा जो एक मंदिर पर इतना अधिक निर्भर हो। जगन्नाथ मंदिर ऐसा अवलंब है जिसके चारों ओर यह शहर घूमता है। यहां पर समुद्र की लहरें काफी चंचल हैं और लहरों के उछाल को देखने से एक अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है। पुरी की एक विशेषता यह है कि वर्ष-भर यहां कोई न कोई उत्सव होता रहता है। यह अपनी जगन्नाथ रथयात्रा के लिए तो दुनिया-भर में प्रसिद्ध है।

श्री जगन्नाथ मंदिर, समुद्रतट, बड़ा डंडा, स्वर्गद्वार आदि पुरी के प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं। अन्य आकर्षकों में बाली घई, बलिहार चंडी, बेलेश्वर, रघुराजपुर तथा कोणार्क मंदिर उल्लेखनीय है। यह पावन नगरी नई दिल्ली से करीब 1300 कि.मी. की दूरी पर स्थित है।

चिलका

भारत की सबसे बड़ी द्वीपीय चिलका तटवर्ती उड़ीसा के मध्य में स्थित है। यह झील उड़ीसा के तीन जिलों—पुरी, खुर्दा और गंजाम के साथ-साथ 1100 वर्ग कि.मी. से भी अधिक क्षेत्र में फैली है। यह एक तंग रास्ते से बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है जहां बहुत बड़ा समुद्री ताल बनता है। यह झील पहाड़ियों से घिरी है और आकाश में दौड़ते बादलों तथा सूर्य की घटती-बढ़ती धूप के साथ इसका रंग बदलता रहता है। बंगाल की खाड़ी से आए पवन के मंद झोंकों से कभी-कभी झील के पानी में हलकी-हलकी तरंगें उठती हैं। रात के समय आकाश झील के शांत जल में समा जाता है और पक्षियों का स्वर मौन हो जाता है।

इस विशाल झील का भ्रमण करते हुए आप नालाबाना, बईस आईलैंड, कालीजई, सातापाड़ा, ब्रह्मपुरा, परिकुड और मालुड जैसे कई मनोहारी स्थलों का आनंद ले सकते हैं। इसके साथ-साथ चिलका के आसपास निर्मल झार, नारायणी,

बाणपुर के भागवती देवी का मंदिर और गोपालपुर के प्राचीन बंदरगाह को देखा जा सकता है। यह कलकत्ता से 590 किलोमीटर दूर है।

अब दर्शन करते हैं दक्षिण के तटों का।

त्रिवेंद्रम

केरल की राजधानी तिरुवनंतपुरम या त्रिवेंद्रम प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय वास्तुशिल्प का अद्‌भुत संगम है। यहां पर अठारहवीं शताब्दी में बने हिंदू देवी-देवताओं के प्राचीन मंदिर मौजूद हैं। कला और पौराणिक इतिहास की झलक त्रिवेंद्रम के शानदार संग्रहालयों में देखी जा सकती है। संगीतमय जल-प्रपात, कल-कल करती नदियां, प्राकृतिक छटा बिखेरते वनस्पति-उद्यान, पर्वतीय स्थल तथा मचलती हुई सागर-तरंगें यहां आपका स्वागत करती हैं। इसके अलावा आप नौका-विहार, पैदल यात्रा, समुद्र की लहरों में विचरने तथा समुद्रतालों का आनंद ले सकते हैं। कोवलम अपनी अनंत सुंदरता तथा खाड़ी के कारण विश्व में अनूठा समुद्रतट है। इस विश्वप्रसिद्ध मनोहारी तट पर पंक्तिबद्ध खड़े नारियल के पेड़, हिंद महासागर की उछलती हुई तरंगें और पक्षियों का गान यहां आने वालों को पूर्ण एकांत का आभास कराते हैं। समुद्र तट की नीरवता, प्राकृतिक छटा तथा नारियल के पेड़ों से छनती शीतलता के अलावा त्रिवेंद्रम में और भी बहुत कुछ है। इनमें पद्मनाभस्वामी मंदिर, प्रियदर्शिनी तारामंडल, विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी संग्रहालय, नैपियर संग्रहालय, वेधशाला, अरुविक्कारा पिकनिक स्थल, कोवलम समुद्रतट, वेली समुद्रताल, ईस्ट फोर्ट, सेंट जोसेफ गिरजाघर, कनक्कुन्नू पैलेस आदि शामिल हैं। आप त्रिवेंद्रम के आसपास अक्कुलम बोट क्लब (झील) और पलारूवी जलप्रपात देखने भी जा सकते हैं। त्रिवेंद्रम नई दिल्ली से लगभग 3000 कि.मी. दूर है।

कोचीन

लगभग 4000 वर्ष पुराने इस तटवर्ती नगर में यहूदी परंपरा की झलक साफ देखी जा सकती है। यहूदी धर्म की जातीय और धार्मिक परंपराओं से इस नगर का अटूट संपर्क बना हुआ है। यहां पर यहूदियों के दो देशी वर्ग हैं। एक है कोचीन के मलयालम भाषी यहूदी और दूसरे हैं मराठी भाषी बेन इस्राइल (इस्राइल के बच्चे)। केरल में धार्मिक विविधता अपने श्रेष्ठ रूप में मौजूद है और इसका

अपना बहुत लंबा इतिहास है। प्राचीन राजाओं, सोलोमन और नेवुचंदनेजार के जमाने से केरल का यहूदियों के साथ व्यापारिक संबंध रहा। यहां का बंदरगाह आज भी नगर का केंद्रबिंदु है। काली मिर्च, समुद्री आहार, रबड़ तथा नारियल रेशा यहां से निर्यात किया जाता है। नारियल के पेड़ों के बीच स्वर्णिम सूर्यास्त, अप्रवाही जल और समुद्रताल यहां की शोभा में चार चांद लगा देते हैं।

यहूदी शहर, परदेशी सिनागाग, मट्टनचेरी, कोचीन हारबर, टर्मिनस, मछली पकड़ने के जाल, सार्वजनिक उद्यान, उच्च न्यायालय की इमारत, ब्राडवे शापिंग सेंटर, बोलघट्टी पैलेस, सेंट फ्रांसिस गिरजाघर, इतिहास का संग्रहालय, वाइरेपिन के द्वीप, विलिंगटन, रमनतुरुथ, वल्लाहपदम, बोलघट्टी आदि कोचीन के मुख्य दर्शनीय स्थल हैं।

कोट्टायम

पश्चिम घाट की निचली पहाड़ियों में बसा कोट्टायम शहर अपने सुरम्य समुद्री तट के साथ-साथ मिर्च के व्यापार के लिए प्रसिद्ध है। ताड़ के पेड़ों से सुसज्जित स्वच्छ समुद्री तट के साथ खड़े जल की प्राकृतिक सुंदरता कोट्टायम का आकर्षण और बढ़ा देती है। सीरियन ईसाई मत के इस प्रमुख केंद्र में कुछ भव्य गिरजाघर देखे जा सकते हैं। अगस्त में अप्रवाही जल में होने वाली प्रसिद्ध नौकादौड़ गति, स्पर्द्धा और मस्ती की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। तेजी के साथ चप्पू चलाते और नदी को चीरते हुए आगे बढ़ते नौकाचालकों को देखना सचमुच एक अविस्मरणीय अनुभव है। इस प्रकार खड़े पानी में नौकायन करते हुए आप केरल के जन-जीवन को निकटता से महसूस कर सकते हैं।

वालियापल्ली गिरजाघर, चेरियापल्ली गिरजाघर, कुमाराकोम झील, शिव मंदिर, एट्टूमनूर, कोल्लम, कोट्टायम और अलपुझा के बीच खड़ा जल आदि यहां के दर्शनीय स्थल हैं। कोट्टायम में साल-भर में खड़े जल में होने वाली नौका-प्रतियोगिताएं हैं—अलपुझा में नेहरू ट्राफी, कोच्ची में इंदिरा गांधी नौकादौड़, पुलिनकुन्नू में राजीव गांधी नौकादौड़, चंपाकुलम नौकादौड़, कोट्टायम मन्नार नौकादौड़, हरिपद में जलोत्सवम् और पलथनमिथिट्टा में अरनमुला नौका दौड़।

कन्याकुमारी

भारत के प्रायद्वीप का यह अंतिम छोर स्वामी विवेकानंद के अध्यात्म, दर्शन एवं चिंतन में पगा हुआ है। इस स्थल की अनूठी विशेषता यह है कि यहां पर तीन

समुद्र मिलते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसी स्थान पर देवी पार्वती ने भगवान शिव को वर के रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी। आभूषणों से सुसज्जित देवी पार्वती की नाक में हीरे की नथ आज भी समुद्र से दिखाई देती है। इस चट्टानी द्वीप पर कन्याकुमारी के पदचिह्न देखे जा सकते हैं। जिस चट्टान पर बैठकर स्वामी विवेकानंद ने तपस्या की थी, वह विवेकानंद रॉक के नाम से जानी जाती है। उसी चट्टान पर उनका स्मारक बनाया गया है। जिस स्थल पर तीनों समुद्र आपस में मिलते हैं, वहां का सूर्यास्त अद्‌भुत होता है और यहां से एक ओर डूबता सूर्य दिखाई देता है तो दूसरे कौने में आप चांद को उदित होते देख सकते हैं।

प्रकृति का यह अदभुत दृश्य केवल कन्याकुमारी में ही सुलभ है।

सूर्योदय एवं सूर्यास्त और स्मारकों के अलावा कन्याकुमारी मंदिर यहां का एक और आकर्षण है। कन्याकुमारी के आसपास कुछ अन्य भ्रमण-स्थल भी हैं जिनमें नागराज मंदिर, सुचिंद्रम, उदयगिरि दुर्ग, पद्मनाभपुरम् महल, तिरूचंदूर और कोरतल्लम जलप्रपात शामिल हैं।

लक्षद्वीप

समुद्री वनस्पतियों के द्वीपसमूह के रूप में प्रसिद्ध लक्षद्वीप के पर्यावरण और संस्कृति में ही उसकी मूल्यवान धरोहर मौजूद है। देश का यह सबसे छोटा केंद्र-शासित प्रदेश और एकमात्र वनस्पतिद्वीप वानस्पतिक चट्टानों से बना है। केरल तट से 400 कि.मी. पश्चिम में स्थित इस द्वीपसमूह का इतिहास बहुत जाना-पहचाना नहीं है, किंतु कुछ प्रमाण मौजूद हैं जिनके आधार पर इन द्वीपों का इतिहास समझा जा सकता है। यहां के लोगों ने हजरत उबैदुल्ला के प्रभाव से इस्लाम धर्म अपनाया। ऐसा कहा जाता है कि पैगंबर मोहम्मद हजरत ने उबैदुल्ला को स्वप्न में प्रकट होकर सुदूर जाकर इस्लाम का प्रचार करने का आदेश दिया। इसके बाद वे मक्का से अपने मिशन पर रवाना हुए। जिस जहाज से वे यात्रा कर रहे थे, वह टूट गया और वे एक तख्ते पर तैरते हुए अमीनी द्वीप पहुंचे और वहीं से उनका धर्मप्रचार का मिशन शुरू हुआ। लक्षद्वीप में 36 वर्ग कि.मी. के क्षेत्र में छत्तीस द्वीप हैं इनमें से दस द्वीप ऐसे हैं जहां अभी कोई आबादी नहीं है। लक्षद्वीप के प्रमुख द्वीपों में अगत्ती, बंगारम, कवारत्ती, मिनीकाय और कलपेनी विशेष उल्लेखनीय हैं। कवारत्ती द्वीप में 52 मस्जिदें हैं और यहां के लोग बहुत सुंदर होते हैं। यहां पर चलने वाली कांच के तले वाली नौकाओं से समुद्री जीव-जंतु देखे जा सकते

हैं। कलपेनी द्वीप में खाड़ियां और समुद्रताल के अलावा बहुत मनोरम वानस्पतिक जीवन उपलब्ध है।

मिनिकाय द्वीप अपने प्रकाशस्तंभ, नारियल के पेड़ों तथा विशिष्ट संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। कलपेनी, कवारत्ती और मिनिकाय द्वीपों में अनेक प्रकार की जल-क्रीड़ाओं की सुविधाएं विकसित की गई हैं। नौका-विहार यहां की एक मुख्य गतिविधि है। यह मुंबई से करीब 1250 कि.मी. की दूरी पर स्थित है।

प्राकृतिक छटा और सांस्कृतिक संपन्नता का संगम : दक्षिण भारत

विविधता में एकता भारतीय समाज-जीवन और संस्कृति की मुख्य विशेषता है। अनेक धर्मों, भाषाओं और रीति-रिवाजों के बावजूद भारत हिमालय से कन्याकुमारी तक भावात्मक एकता के सूत्र में बंधा हुआ है। भाषा, रहन-सहन और संस्कृति की विविधता भारत के विभिन्न भागों में अलगाव लाने की बजाय उन्हें आपस में जोड़ती है। देश की इस विविधता की जानकारी और समझ बढ़ाकर ही सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के सूत्र और सुदृढ़ किए जा सकते हैं। पर्यटन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

संस्कृति के विविध रंगों के अलावा प्राकृतिक छटा की दृष्टि से भी भारत अत्यंत सौभाग्यशाली है। पर्वत, नदियां, समुद्र, वन, वन्य जीव, वनस्पति आदि प्राकृतिक संपदा से हमारा देश संपन्न है। दक्षिणी प्रदेश अर्थात दक्षिण भारत अपनी सांस्कृतिक संपन्नता और प्राकृतिक सौंदर्य के लिए विख्यात है।

लंबा मनोरम चित्ताकर्षक समुद्री तट, चहुं ओर फैली हरियाली, कलकल करती नदियां, मनोरम जलप्रपात, नयानाभिराम घाटियां, आकाश की ओर निहारते नारियल के पेड़, उच्च पर्वतशिखर, प्राचीन मंदिरों के ऊंचे गोपुरम तथा ऐतिहासिक महत्त्व के असंख्य स्थान अपनी ओर बुलाते प्रतीत होते हैं।

सांस्कृतिक धरोहर की स्थली तमिलनाडु

दक्षिण में उत्तर की तुलना में अधिक विविधता, रंगत और भव्यता के दर्शन होते हैं। विंध्य के उस पार देश के अंतिम छोर पर कन्याकुमारी में तीन सागरों—हिंद महासागर, अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी का अद्भुत संगम होता है। तीन सागरों का यह संगम-स्थल उस राज्य की अमूल्य निधि है जो प्राचीन सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परंपराओं की अथाह संपदा अपने में समेटे हुए भारतवासियों की ही, नहीं सारे संसार की उत्सुकता और उत्कंठा का केंद्र बना हुआ है। यह राज्य है—तमिलनाडु। पौराणिक तथा ऐतिहासिक स्थानों व घटनाओं की स्थली होने के

साथ-साथ तमिलनाडु को आधुनिक दक्षिण का गवाक्ष कहा जाता है, क्योंकि आधुनिकता के सूर्य की प्रथम किरणों ने इसी प्रदेश को प्रकाशित किया।

आज का तमिलनाडु दक्षिण ही नहीं, प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक जीवन का भी संगम है। इतिहास, राजनीति, धर्म तथा संस्कृति के प्राचीनतम अवशेषों की जितनी समृद्ध परंपरा इस प्रदेश में सुरक्षित है उतनी संभवत: किसी और राज्य में नहीं होगी।

भारत को प्रकृति मां की बेजोड़ देन है—कन्याकुमारी। तीन सागरों की इस संगम-भूमि की महिमा में कहा गया है—'पग पग होत प्रयाग'। निष्ठावान हिंदू मोक्षप्राप्ति के लिए इस पवित्र संगम में स्नान करने जाते हैं। भारतभूमि के इस अंतिम छोर पर खड़े होकर बंगाल की खाड़ी में सूर्योदय तथा अरब सागर में सूर्यास्त, दोनों देखे जा सकते हैं। और इस दृश्य से जो आनंद प्राप्त होता है, उसे अनुभव ही किया जा सकता है। समुद्रतट के करीब दो किलोमीटर समुद्र के अंदर दो शिलाएं हैं, जिनमें से एक को विवेकानंद शिला कहते हैं। विवेकानंद ने इसी शिला पर एकांत में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। इस शिला पर विवेकानंद के भव्य स्मारक का निर्माण किया गया है जो देश-विदेश के पर्यटकों के लिए आकर्षण का बड़ा केंद्र बन चुका है।

कर्नाटक तथा तमिलनाडु को जोड़ने वाली पर्वतश्रेणी नीलगिरि पर उदकमंडलम पर्वतीय पर्यटन केंद्र है। यहां यूकलिप्टस पेड़ों की पंक्तियां समूचे क्षेत्र में ताजगी तथा सौंदर्य का सृजन कर रही हैं। इस स्थान को संक्षेप में 'ऊटी' भी कहते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य की असीम छटा बिखेरते इस स्थान को 'पर्वतीय पर्यटन स्थलों की रानी' कहा जाता है। यहां पर विशाल वनस्पति उद्यान भी है जिसकी स्थापना 1847 में की गई थी। इसमें विभिन्न किस्मों के असंख्य पौधे मन मोह लेते हैं। वनस्पतिविज्ञान तथा चिकित्साशास्त्र के छात्र यहां अनुसंधान करने आते हैं। इस उद्यान के नीचे ही एक झील तथा दो करोड़ वर्ष पुराने एक पेड़ का जीवाश्म मौजूद है। 65 एकड़ क्षेत्र में फैली इस झील में तरह-तरह की मछलियां हैं। ऊटी में हर साल पुष्प-प्रदर्शनी तथा कुत्तों का मेला लगता है।

ऊटी से करीब 60 किलोमीटर दूरी पर प्रसिद्ध आमलाई वन्य प्राणी अभयारण्य है। 958 किलोमीटर क्षेत्र में फैले इस अभयारण्य में विभिन्न जंगली कुत्ते तथा अनेक किस्म के पक्षी रहते हैं। अमरावती जलाशय में बड़ी संख्या में मगरमच्छ देखे जा सकते हैं।

यहां से लगभग 90 किलोमीटर की दूरी पर कोयंबतूर नगर है। यहां अनेक

कपड़ा मिलें है, जिस कारण इसे दक्षिण भारत का मैनचेस्टर कहा जाता है। यहां पर कृषि विश्वविद्यालय तथा फॉरेस्ट कालेज भी है। कोयंबतूर से 7 किलोमीटर दूर नोरूयल नदी पर प्रसिद्ध पेरूर शिवमंदिर है।

सेलम जिले में सरवोंराय पहाड़ियों में स्थित येरकांड एक शांत और सुरम्य पर्यटन स्थल है। यहां पर मौसम साल-भर खुशहाल तथा ठंडा रहता है। यहां की प्राकृतिक झील बरबस यात्रियों को आकर्षित कर लेती है। झील के चारों ओर मनोरम उद्यान एवं घने पेड़ लगे हैं। अन्ना पार्क, प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए लेडीज सीट व पगोडा प्वाइंट और किल्लयुर जलप्रपात इसके अन्य आकर्षण हैं।

तमिलनाडु का एक और अत्यंत सुंदर तथा चित्ताकर्षक पर्वतीय स्थल है—कोदाईकनाल। यह समुद्रतल से 7000 फुट की ऊंचाई पर है। यहां पर पिल्लर राक, पेरूमल पीक, सुंदर झील, सौर वैधशाला और संग्रहालय के अलावा अंदावर मंदिर भी दर्शनीय है। ट्रैकिंग के लिए भी यह स्थान बहुत उपयुक्त है। यहां जंगली फूलों के नैसर्गिक सौंदर्य तथा कॉफी बागान का मनोहारी दृश्य पर्यटकों के मन को बांध लेता है।

राज्य के प्राकृतिक स्थलों में मामल्लपुरम का नाम भी समान रूप से उल्लेखनीय है। मामल्लपुरम में भारत का सुंदरतम समुद्रतट है। प्राचीन भारत में मामल्लपुरम पल्लव साम्राज्य में बहुत बड़ा बंदरगाह था। इस समय यह दक्षिण भारत के प्रमुख समुद्री तट पर्यटन स्थल के रूप में उभर रहा है। यहां पर तट, मंदिर, पांच रथ, तपस्या करते हुए अर्जुन की मूर्ति, सिंह गुफा तथा गंगा अवतरण जैसे अत्यंत मनोहारी दर्शनीय स्थल हैं। अधिकतर मंदिर चट्टानों को काटकर बनाए गए हैं। इन्हें गुफामंदिर भी कहा जाता है।

चार धामों में से एक रामेश्वर धाम भी तमिलनाडु में है। रामेश्वर समुद्र के अंदर एक द्वीप पर स्थित है। यहां तक जाने के लिए समुद्र के ऊपर बनी रेल पटरी पर चलती रेलगाड़ी में यात्रा करना भी अपने-आपमें एक सुखद अनुभव है। यहां भगवान राम का प्राचीन मंदिर है। पुराणों के अनुसार इस मंदिर का निर्माण भगवान राम ने लंका से लौटते हुए कराया था। इसके अंतर्मार्ग की लंबाई 4000 फुट है। यह देश के किसी भी भाग के अंतर्मार्ग से लंबा है। यहां समुद्र में स्नान के लिए घाट भी बने हुए हैं। यहां कई और मंदिरों के भी दर्शन किए जा सकते हैं।

तमिलनाडु की राजधानी, लंबे इतिहास का साक्षी देश का एक प्रमुख

महानगर, बड़ा बंदरगाह तथा समूचे दक्षिण भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला नगर चेन्नई वास्तव में तमिलनाडु का ही नहीं, समूचे दक्षिण भारत का प्रवेश द्वार (गेटवे) है। इसका पुराना नाम मद्रास है। पहले समूचे तमिलनाडु का नाम मद्रास था। 1639 में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बसाया गया यह नगर अब दक्षिण की कला, संगीत, नृत्य तथा सांस्कृतिक परंपराओं के साथ-साथ उद्योग तथा व्यापार का मुख्य केंद्र बन गया है।

यहां आने वालों के लिए मुख्य आकर्षण है—मैरीना बीच। यहां की प्राकृतिक छटा, आनंददायक वातावरण तथा चंचल समुद्री लहरों का खिलवाड़ मंत्रमुग्ध कर देता है। मैरीना बीच के निकट एक सुंदर तथा मनोहारी उद्यान है जिसमें अन्ना स्क्वायर बना है। मैरीना बीच में ही मछलीघर है जिसमें तरह-तरह की मछलियां तथा अन्य समुद्री जंतुओं को देखा जा सकता है। चेन्नई की लगभग 300 वर्ष पुरानी इमारत फोर्ट सेंट जार्ज भी दर्शनीय भवन है। इसमें अब राज्य सरकार का सचिवालय तथा विधानसभा है। इसी इमारत में फोर्ट म्यूजियम है। इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी तथा ब्रिटिश काल से संबंधित अत्यंत रोचक वस्तुएं तथा दस्तावेज रखे हुए हैं। मैरीना बीच के दक्षिणी छोर पर बना नया आधुनिक प्रकाश-स्तंभ, सेंट मेरी चर्च तथा महात्मा गांधी, कामराज तथा राजाजी के भव्य स्मारक भी यहां के दर्शनीय स्थलों में हैं। द्रविड वास्तुकला का परिचय देता हुआ शिवमंदिर तथा अन्य अनेक मंदिर भी यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

तमिलनाडु के धार्मिक महत्त्व के दर्शनीय स्थलों में कांचीपुरम का सर्वोच्च स्थान है। हिंदुओं की सात पवित्र नगरियों में से एक कांचीपुरम को 'हजार मंदिरों के नगर' के रूप में विख्यात होने का गौरव प्राप्त है। कांचीपुरम पहले पल्लव साम्राज्य की राजधानी बना। यह नगर कई शताब्दियों तक तमिल संस्कृति और शिक्षा का केंद्र रहा है। प्रसिद्ध कामाक्षी मंदिर तथा अन्य असंख्य मंदिरों के अलावा यहां अन्नादुरै स्मारक भी है।

ऐतिहासिक स्मारकों की भूमि कर्नाटक

कर्नाटक की यात्रा एक सुंदर मोहक स्वप्न के समान है। एक ओर हरे-भरे पर्वतीय स्थलों से सजी यह धरती पर्यटकों का मन मोह लेती है और दूसरी ओर, जब अरब सागर सूर्य को शयन के लिए गोद में समेटता है तो उन स्वर्णिम क्षणों की अप्रतिम सुंदरता की स्वयं देखे बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती। संतों और वीरों की इस भूमि ने इतिहास के राजमार्ग पर कई स्मृतिचिह्न बनाए हैं। पर्वतों,

नदियों, झरनों, और वनों के अतिरिक्त यहां के सुनहरे समुद्री तट हमें वह सब प्रदान करने में सक्षम हैं, जिसकी हम किसी भी स्थान से आशा कर सकते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के अतिरिक्त यहां की धरती के कण-कण में इतिहास पल रहा है। प्राचीन गौरवशाली भारतीय सभ्यता-संस्कृति के अवशेष आज भी अपनी गाथा कहते प्रतीत होते हैं।

जनसंख्या एवं क्षेत्रफल दोनों ही दृष्टियों से भारत के इस आठवें सबसे बड़े राज्य का प्राचीन इतिहास रामायण और महाभारत तक चला गया है। नवंबर 1973 से पूर्व यह राज्य मैसूर के नाम से जाना जाता था। इसकी सीमाएं उत्तर में महाराष्ट्र और गोवा, दक्षिण में तमिलनाडु और पूर्व में आंध्र प्रदेश से मिलती हैं। इसके पश्चिम में है—अरब सागर का 320 कि.मी. लंबा समुद्री तट। यह सुनहरा तट आधुनिक जलक्रीड़ा प्रतियोगिताओं के लिए असीम संभावनाएं छिपाए हुए है। समुद्रतट के साथ-साथ पश्चिमी घाट पर्वतशृंखला चली गई है। इसके कुछ उत्तरी शिखर 915 मीटर से अधिक ऊंचे हैं। मध्य में इनकी ऊंचाई 305-610 मीटर ही है। दक्षिण में केरल की ओर से शिखर 1832 से लेकर 2440 मीटर तक ऊंचे उठे हुए हैं।

कर्नाटक शब्द 'करूनाडु' से निकला है जिसका अर्थ है 'ऊंची धरती'। इस ऊंची धरती के एक कोने को दूसरे कोने के साथ जोड़ने के लिए पूरे राज्य में सड़कों का जाल बिछा हुआ है। राज्य में लगभग 1.25 लाख कि.मी. लंबी सड़कें हैं। 3000 कि.मी. लंबी रेलवे लाइन के कारण लगभग हर शहर सड़क अथवा रेलमार्ग से जुड़ा हुआ है। प्रमुख नगरों में साफ-सुथरे हवाई अड्डे हैं। 444 कि.मी. लंबा नदी-नौवहन मार्ग भी है। राज्य में जनसंख्या का घनत्व लगभग 200 व्यक्ति प्रति कि.मी. है। भारत के कुल क्षेत्रफल के 5.35 प्रतिशत अर्थात् 1,92,204 कि.मी. भू-प्रदेश का यह प्रांत बेजोड़ सभ्यता एवं संस्कृति के समृतिचिह्न अपने में संजोए हुए है।

जलवायु की दृष्टि से यह प्रांत पर्यटकों के लिए अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है। आठ डिग्री सेल्शियस से लेकर 43 डिग्री सेल्शियस तक की जलवायु यहां पाई जाती है। दो मानसूनों की यह धरती खुशहाली से सबका स्वागत करती है। यहां के अंगूबे क्षेत्र को दक्षिण भारत का चेरापूंजी कहा जाता है। यहां का सूर्यास्त देखने के लिए कई पर्यटक विशेष रूप से आते हैं। कारवाड़ के समुद्र-तट को भारत का सुंदरतम तट कहा जाता है।

कर्नाटक में स्थान-स्थान पर प्राचीन इतिहास के अवशेष मिलते हैं, जिन्हें

देखकर आगंतुक आश्चर्यचकित रह जाते हैं। शताब्दियों पूर्व यहां पर जो सभ्यता-संस्कृति विकास पा चुकी थी, उसकी कल्पना करके ही दांतों-तले उंगली दबानी पड़ती है। यहां के लगभग हर स्थान का संबंध रामायण एवं महाभारत से जुड़ा है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मैसूर की नदी चुचीनकांटा में जनकनंदिनी सीता ने स्नान किया था। हंपी ही बाली की राजधानी किष्किंधा थी। कृष्णा, घाटप्रभा, मालप्रभा, तुंगभद्रा, कावेरी, पेन्नार और पोन्नायार इत्यादि नदियों ने इस प्रांत की अर्थव्यवस्था को गति दी है। इनकी घाटियों में काडुर, निमामती, बेल्लारी इत्यादि स्थानों में नवपाषाणकालीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं। यहां के आदिकालीन मूल निवासी निम्रती जाति के थे जिनका बाद में उत्तर की ओर से आए द्रविडों के साथ संगम हो गया।

हरित प्रदेश केरल

प्रकृति और संस्कृति के अप्रतिम भंडार भारतीय उपमहाद्वीप के सर्वाधिक हरित प्रदेश केरल के सौंदर्य का रसास्वादन करने देश-विदेश के लाखों लोग पहुंचते हैं। कुछ लोग मंदिरों के दर्शन करके आध्यात्मिक लाभ उठाते हैं तो कुछ कला, नृत्य तथा पर्व-समारोहों में भाग लेकर आनंदित होते हैं। कई लोग नदियों, समुद्री तटों, जलप्रपातों, सरोवरों तथा वन-प्रदेश में घूमकर अपना हृदय प्रसन्न करते हैं।

पहाड़ियों पर बसी राजधानी त्रिवेंद्रम या तिरुअनंतपुरम कला-संग्रहालयों, मंदिरों, मस्जिदों तथा गिरजाघरों का नगर है। विश्व-प्रसिद्ध कोवलम बीच यहां से केवल 12 किलोमीटर दूर है। तिरुअनंतपुरम कभी भारत का स्वच्छतम नगर माना जाता था। साबरीमाला में भगवान अयप्पा का मंदिर है। कालड़ी शंकराचार्य का जन्मस्थान है। पेरयार नदी पर स्थित कालड़ी गांव में शंकराचार्य का भव्य मंदिर है और यहां हर वर्ष पांच दिन शंकर जयंती उत्सव होता है। गुरुवयूर को दक्षिण की द्वारिका कहा जाता है। यह पार्थसारथी कृष्णमंदिर के लिए प्रसिद्ध है। कोचीन तो 'अरब सागर की रानी' के नाम से विख्यात है। त्रिचूर में केरल के शास्त्रीय नृत्य कथकली का प्रशिक्षण केंद्र कलामंडलम यात्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। कालीकट ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध नगर है। तमिलनाडु के विश्व-प्रसिद्ध स्थल कन्याकुमारी के लिए भी केरल से होकर जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस राज्य में अनेक वन्य प्राणी अभयारण्यों का जाल-सा बिछा हुआ है। इनमें से सबसे प्रमुख हैं पेरियार विहार, जिसे हथियों को निकट से देखने तथा उनके फोटो लेने की दृष्टि से भारत का सर्वश्रेष्ठ पशु-विहार माना जाता है। इस

पशु-विहार में बड़ी संख्या में हाथी, सांभर, बाघ, चीते, हिरण तथा अन्य अनेक वन्य प्राणी हैं।

केरल में आने वाले पर्यटकों की संख्या बढ़ाने के लिए सरकारी व गैर-सरकारी स्तर पर अनेक उपाय किए गए हैं। इन प्रयासों का उद्देश्य केरल की अथाह प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक संपदा के संबंध में देश में तथा यथासंभव विदेशों में संभावित पर्यटकों को जानकारी देना और उपलब्ध पर्यटन सुविधाओं को और बेहतर बनाना है।

केरल के प्रसिद्ध मंदिरों में भित्तिचित्रों की समृद्ध धरोहर है। इनमें से कई चित्र अब खराब हो रहे हैं, फीके पड़ते जा रहे हैं या टूट रहे हैं। सांस्कृतिक धरोहर की राष्ट्रीय प्रयोगशाला और राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने संयुक्त रूप से इन भित्तिचित्रों के निरीक्षण की योजना बनाई है। इसके अंतर्गत ज्ञात भित्तिचित्रों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाएगा तथा इन कलाकृतियों को नष्ट होने से बचाने के उपाय सुझाए जाएंगे। राज्य में अज्ञात भित्तिचित्रों की खोज की जाएगी और उनका विस्तृत ब्यौरा तैयार किया जाएगा।

भित्तिचित्रों के इस कला-भंडार से पर्यटकों तथा आम लोगों को अवगत कराने के उद्देश्य से इन चित्रों की सुंदर और आकर्षक अनुकृतियां तैयार कराके राज्य के अतिथिगृहों और सरकारी कार्यालयों की दीवारों को उनसे सजाया गया है।

वास्तुशिल्प का खजाना : आंध्र प्रदेश

आंध्र प्रदेश में इतिहास तथा संस्कृति के कई खजाने छिपे हैं। यहां संस्कृति, कला और स्पंदनशील लोगों की कलाकारी का असीम अनुभव ध्यान आकर्षित कर लेता है। इस राज्य का इतिहास मौर्यकाल का है जब सातवाहन शासकों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। काकतीय, विजयनगर के राजा, कुतुबशाही, मुगल तथा आसिफजाही और बाद के राजवंशों ने इस धरती पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। ऐतिहासिक इमारतें, मंदिर तथा मस्जिदें ऐसी धरोहर हैं जो अपनी गाथाएं स्वयं सुनाती हैं, जबकि कला, शिल्प और नृत्यकलाप्रेमी लोगों को आनंद प्रदान करते हैं।

400 वर्ष पुराने हैदराबाद शहर का उद्‌भव 1589 में भाग्यनगर के रूप में हुआ था। यह गोलकुंडा के पांचवें शासक मोहम्मद कुली कुतुबशाह और उनकी प्रेयसी भाग्यवती की प्रेमगाथा क चरम सीमा थी। शहर का इतिहास ऐसी

ऐतिहासिक घटनाओं से परिपूर्ण है जो प्राचीन शालीनता को आधुनिकता के साथ भव्यता से जोड़ती हैं। आज हैदराबाद बड़े महानगरों में एक है और उत्तर और दक्षिण में ऐसा सामंजस्य स्थापित करता है, जो इसकी भाषा, खान-पान और कला में साफ झलकता है।

हैदराबाद रेलवे स्टेशन से लगभग 6 कि.मी. की दूरी पर स्थित चारमीनार दुनिया-भर में वास्तुकता का एक अनूठा नमूना है। चार आकर्षक मीनारों के साथ 180 फुट ऊंची प्रमुख इमारत का निर्माण 1591 में कुली कुतुबशाह ने किया था। यह इमारत भीड़भाड़ वाले पुराने शहर के बीचोंबीच स्थित है। इसे पूर्व के विजयगीत की चाप माना जाता है। चारमोनार के निकट ही मक्कामस्जिद है जो दक्षिण भारत की सबसे बड़ी मस्जिद है। इसका प्रवेशद्वार ग्रेनाइट के एक ही टुकड़े से बना हुआ है।

शहर के बाहर दूर एक पहाड़ी पर स्थित गोलकुंडा का किला कुतुबशाही शासकों का अजेय किला है। किले के निकट कुतुबशाही मकबरे, गौरवमयी गुंबद आकार की इमारतें हैं जो शांति का प्रतीक हैं। सालारजंग संग्रहालय किसी एक व्यक्ति द्वारा संगृहीत कृतियों का सबसे बड़ा संग्रहालय है, जिसमें 30,000 से अधिक उत्कृष्ट कलाकृतियां हैं।

इस स्थान के सांस्कृतिक लोकाचार को रेखांकित करता हुआ बिरला मंदिर है जो नौबत पहाड़ पर सफेद संगमरमर से निर्मित है और भगवान वेंकटेश्वर को समर्पित है। शहर के बीचोबीच हुसैन सागर झील है जिसका जलक्रीड़ाओं के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकास हो रहा है। इस झील में आध्यात्मिकता का संदेश देती हुई भगवान बुद्ध की एक शिलामूर्ति स्थापित है। शहर के आधुनिकीकरण की द्रुत गति का प्रतीक मध्य हैदराबाद से लगभग 15 कि.मी. की दूरी पर स्थित सूचना टेक्नोलॉजी पार्क है, जिसे हैदराबाद को उच्च शिखर पर पहुंचाने वाले अत्याधुनिक सूचना टेक्नोलॉजी केंद्र के रूप में माना जाता है।

किसी समय ऐतिहासिक काकतीय शासकों की राजधानी रहा वारंगल शहर हैदराबाद से लगभग 157 कि.मी. की दूरी पर है तथा नई दिल्ली और चेन्नई को जोड़ने वाले ग्रांड ट्रंक रेल मार्ग पर स्थित है। यहां के प्रमुख हजार स्तंभों के मंदिर के स्तंभों पर शानदार नक्काशी मंदिर वास्तुकला की अद्वितीय शैली की अभिव्यक्ति है। शांत वातावरण के लिए प्रसिद्ध यहां के पाखल सरोवर तथा वारंगल से लगभग 50 कि.मी. की दूरी पर स्थित 90 एकड़ में फैले वन्य जीव अभयारण्य को देखे बिना आपकी यात्रा पूरी नहीं होगी। 13वीं शताब्दी का वारंगल

का किला काकतीय शासक गणपति देव की वीरता का साक्षी है। वारंगल से 60 कि.मी. की दूरी पर स्थित है रामप्पा मंदिर जो मध्यकालीन मंदिरों में उत्कृष्ट माना जाता है।

विजयवाड़ा आंध्र प्रदेश के तटवर्ती क्षेत्र का प्रमुख सांस्कृतिक केंद्र है। इंद्र कालाद्रि पहाड़ पर निर्मित कनकदुर्गा मंदिर, जिसकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गा हैं तथा विजयवाड़ा से 12 कि.मी. की दूरी पर मंगलगिरि पहाड़ पर स्थित नरसिंहस्वामी का मंदिर तीर्थयात्रियों के लिए दर्शनीय स्थान हैं। हजरत बल मस्जिद, जिसमें पैगंबर मोहम्मद के पवित्र स्मृतिचिह्न रखे हैं, इस क्षेत्र को सौम्यता प्रदान करती है। 7वीं शताब्दी की उंडवल्ली गुफाएं भी दर्शनीय हैं।

. तिरुपति अत्यंत पूजनीय और पवित्र भगवान वेंकटेश्वर का निवास स्थान है जो हैदराबाद से 700 कि.मी. तथा चेन्नई से करीब 200 कि.मी. दूर है। बंगलौर से भी यहां आसानी से पहुंचा जा सकता है। तिरुपति में तिरुमाला पर्वतों पर स्थित भगवान वेंकटेश्वर मंदिर अत्यंत पूजनीय मंदिरों में से एक है और भारतीय मंदिरों की वास्तुकला का अनुपम उदाहरण है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार ये सात पर्वत आदि शेषनाग का रूप हैं, जिस पर भगवान विष्णु विराजमान हैं। मंदिर में चली आ रही अनेक परंपराओं में भगवान के शरीर पर कर्पूरयुक्त चंदन का लेप लगाना और त्याग-भावना के रूप में भक्तों द्वारा अपने सर मुंडवाकर बालों को भगवान को अर्पित करना भी शामिल है।

इस शहर के अन्य विख्यात मंदिर हैं— श्री गोविंदराज स्वामी मंदिर व पवित्र कपिलतीर्थम् झील। भगवान वेंकटेश्वर की अर्द्धांगिनी देवी अलिवेलुमंगाजी का मंदिर तिरुचनूर में स्थित है। देवी माता का एक और मंदिर तिरुपति से लगभग 12 कि.मी. की दूरी पर श्रीमंगापुरम् में स्थित है।

भद्राचलम् में श्री सीता-रामचंद्र मंदिर है जो भद्राचलम् रोड रेलवे स्टेशन से 38 कि.मी. दूरी पर है। यह मंदिर प्रसिद्ध गोदावरी नदी के दाईं तरफ है जो इस क्षेत्र के पवित्र मंदिरों में से एक है। रामनवमी के दिन पवित्र कल्याण महोत्सवम् का दर्शन करने तीन लाख से अधिक भक्त यहां आते हैं।

प्राचीनकाल में विजयपुरी के नाम से जाना जाने वाला नागार्जुन सागर एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्थल है। यह हैदराबाद से 150 कि.मी. तथा माचर्ला रेलवे स्टेशन से 29 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। कृष्णा नदी पर बना हुआ यह नागार्जुन सागर बांध तकनीकी कौशल का अद्‌भुत नमूना है जो उन हजारों मजदूरों के अथक परिश्रम का परिणाम है, जिन्होंने लगभग 12 वर्ष तक इसके निर्माण-कार्य में खून-

पसीना बहाया। यह बांध 35 लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करता है तथा लगभग 9,00,000 किलोवाट बिजली उत्पन्न करता है।

आंध्र प्रदेश में लगभग 1000 कि.मी. लंबी तटरेखा है, जहां विभिन्न स्थलों पर नीले पानी का सुनहरी रेत से मिलन का अनोखा नजारा देखने को मिलता है। यह तटरेखा सूर्योपासकों तथा समुद्र में स्नान करने वालों के लिए एक पवित्र और असीम आनंद प्रदान करने वाला स्थान है।

विशाखापट्टनम् लंबे समुद्रतटों का स्वर्ग है। रामकृष्ण समुद्रतट तथा लासन की खाड़ी मनोरंजन तथा आराम करने के लिए उत्तम स्थल है। विशाखापट्टनम् से 8 कि.मी. दूर स्थित स्वच्छ ऋषिकोंडा समुद्रतट छुट्टी मनाने के लिए अति उत्तम स्थान है। यहां से 24 कि.मी. दूरी पर स्थित भीमुनिपट्टणम् समुद्रतट तैराकी के लिए बढ़िया स्थान है। मचिलीपट्टणम् से लगभग 11 कि.मी. दूर स्थित मंगनपुड़ि समुद्रतट एक नैसर्गिक खाड़ी है जिसका पानी कम गहरा तथा सुरक्षित है। इस स्थान का मनोहर दृश्य एक विशेष आकर्षण बिंदु है। चिराला के निकट स्थित दर्शनीय वोडरेवु समुद्रतट के शांत वातावरण में पर्यटक भारी संख्या में अपनी सप्तांहांत छुट्टियां मनाने आते रहते हैं। यह समुद्रतट अंग्रेजों के जमाने में बहुत मशहूर था। नेल्लूर के निकट स्थित मैपाड समुद्रतट एक रेतीला समुद्रतट है जहां सूर्य की किरणें रेत को चूमती हैं तथा चारों ओर फैली हरियाली इसे और आकर्षक बना देती है।

समाज विमर्श

सामाजिक चेतना के नए आयाम

भारत दुनिया के उन गिने-चुने देशों में है जिसके पालने में सभ्यता न केवल विकसित हुई, बल्कि उसने अपनी सुगंध से अन्य देशों और समाजों को भी सुवासित किया। सोने की चिड़िया कहलाने वाले भारतवर्ष में भौतिक संपदा का ही अथाह भंडार नहीं था, वह शिक्षा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के क्षेत्र में भी दुनिया का अग्रणी देश रहा है। नालंदा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों के नाम आज भी स्मरणीय हैं। अनेक भारतीय विद्वानों ने विश्व के कोने-कोने में जाकर ज्ञान एवं संस्कृति का प्रसार किया। इसी तरह सभी देशों के लोग भारत में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लेने आते थे।

किंतु ईसा की दसवीं शताब्दी के बाद से भारत सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ने लगा। इस दौरान भारत की समृद्धि विदेशियों की आंख की किरकिरी बन गई। अनेक विदेशी हमलावर लूट और लालच के वशीभूत होकर भारत आए और संपत्ति हड़पने के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक वैभव को भी नष्ट करते रहे। दुर्भाग्यवश इन कुप्रयासों का सामूहिक प्रतिकार नहीं हुआ, जिसके फलस्वरूप देश में आर्थिक विपन्नता के साथ-साथ सांस्कृतिक पराभव और सामाजिक बिखराव आता गया। मध्यकाल तक आते-आते भारत अपने प्राचीन गौरव के स्थान से स्खलित हो चुका था और कई तरह की सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों और अज्ञान के चक्रव्यूह में फंस चुका था। सच तो यह है कि उन सामाजिक बेड़ियों के बंधन से हम आज भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज को अज्ञान और कुरीतियों के गर्त से निकालने के प्रयास ही नहीं हुए। वास्तव में मध्यकाल में ही भक्ति आंदोलन के संतों तथा अन्य धर्मगुरुओं, महात्माओं और मनीषियों ने समाज में चेतना लाने के उद्देश्य से यात्राएं कीं, प्रवचन दिए और पुस्तकें लिखीं। कबीर ने सांप्रदायिक और सामाजिक समानता का उपदेश दिया तो नानक ने गरीब-अमीर और ब्राह्मण--हरिजन के अंतर को पाटने की सीख दी। संत तुकाराम, समर्थ गुरु रामदास, नारायण गुरु जैसी विभूतियों ने दक्षिण में सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध आवाज

उठाई। किंतु इन सभी प्रयासों का स्वरूप मूलतः धार्मिक था और उसे सामाजिक रूप देने की दिशा में विशेष कुछ नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त उन प्रयासों में समाज की अपनी भागीदारी न के बराबर थी। इन संत-महात्माओं की अपील एक खास वर्ग तक सीमित रही।

किंतु आधुनिक काल अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सामाजिक चेतना लाने के प्रयास उत्तरोत्तर सामूहिक अथवा सामुदायिक होते गए यानी परिवर्तन लाने की अपील व्यापक होती गई तथा समाज में सामान्य लोगों की भागीदारी की अवधारणा एक स्वरूप ग्रहण करने लगी। समाज में परिवर्तन अथवा सुधार लाने के अभियान में एक खास बात यह जुड़ गई कि ये प्रयास धार्मिक स्वरूप से आगे बढ़कर सामाजिक सरोकारों को छूने लगे। हम आर्यसमाज का उदाहरण लेते हैं जिसका उत्तर भारत के जनजीवन में ऐतिहासिक स्थान रहा है। आर्यसमाज का मूल उद्देश्य वैदिक ज्ञान और गौरव की पुनर्स्थापना करना था तथा अपने लक्ष्य व स्वरूप में यह पुनरुत्थानवादी था। किंतु कबीर के बाद संभवतः यह पहला अवसर था जब हिंदू समाज की धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों को व्यापक बनाने के साथ-साथ उनके सामाजिक जीवन में घुस आए विकारों पर भी चोट करने की चेष्टा की गई। स्वामी दयानंद का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान था शिक्षा को प्राचीन गौरव और आधुनिक ज्ञान से जोड़ना। जो शिक्षा केवल एक विशेष वर्ग तक सीमित थी, उसे समाज के सभी वर्गों के लिए सुलभ बनाने का प्रयास आर्यसमाज की बहुत बड़ी देन है। स्त्री शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में भी आर्यसमाज की ऐतिहासिक भूमिका रही है। दयानंद एंग्लो वैदिक (डीएवी) शिक्षा संस्थानों की स्थापना करके आर्यसमाज ने शिक्षा का प्रसार तो किया ही, उसे भारतीय स्वरूप प्रदान करके पश्चिमी संस्कृति तथा अंग्रेजियत की जड़ें मजबूत करने वाली शिक्षा-पद्धति के समकक्ष एक वैकल्पिक शिक्षा-व्यवस्था भी कायम की।

आर्यसमाज मूलतः एक धार्मिक पंथ था, किंतु उसकी गतिविधियां धार्मिक कम, सामाजिक अधिक थीं। आर्यसमाज ने लंबे समय से चली आ रही सांस्कृतिक व सामाजिक जड़ता पर चोट करके उसे हिला दिया। इससे आगे आने वाले प्रगतिवादी, समाजवादी तथा गांधीवादी आंदोलनों के लिए पुख्ता जमीन तैयार करने में काफी मदद मिली।

उधर उसी दौरान सर सैयद अहमद खान ने मुस्लिम समुदाय को जागरूक बनाने के लिए अभियान चलाया। उनका मकसद मुस्लिमों में ज्ञान का प्रसार

करके उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करना था। अलीगढ़ में स्थापित शिक्षा-संस्थान उनके प्रयासों की एक अभिव्यक्ति है।

आर्यसमाज के समकालीन ब्रह्मसमाज ने पूर्वी भारत, विशेषत: बंगाल में सामाजिक चेतना एवं सुधार लाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। यों तो ईश्वरचंद्र विद्यासागर सरीखे अनेक मनीषियों ने समाज-सुधारों पर जोर दिया, किंतु ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने सामुदायिक रूप से सती-प्रथा, बाल-विवाह, दहेज जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ और आधुनिक शिक्षा के पक्ष में इतना जोरदार आंदोलन चलाया कि ब्रिटिश सरकार को सती-प्रथा की समाप्ति का कानून बनाना पड़ा। स्वामी विवेकानंद भी मूलत: धार्मिक तथा दार्शनिक व्यक्ति थे किंतु उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके विपदा, रोग और अन्य प्रकार के कष्टों से पीड़ित लोगों को राहत देने का अभिनव मार्ग अपनाया। इससे पहले दु:खी और पीड़ित व्यक्तियों की सामूहिक देखभाल और सेवा-शुश्रूषा की कल्पना भारतीय समाज में दिखाई नहीं देती थी। रामकृष्ण मिशन आज भी अपनी इस नीति तथा कार्य-पद्धति को जारी रखे हुए है और आध्यात्मिक चिंतन के साथ-साथ समाज-सेवा उसकी गतिविधियों का मुख्य आधार है। महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज ने सामाजिक जड़ता पर प्रहार करके सामाजिक समरसता कायम करने की दिशा में पहल की। दरअसल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की नींव ये सुधारवादी आंदोलन ही बने।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने रचनात्मक कार्य के अंतर्गत स्वदेशी, नशाबंदी, सादा जीवन, हरिजन-उद्धार जैसे कार्यक्रम हाथ में लेकर सामुदायिक आधार पर समाज-सुधार का अभिनव प्रयोग किया। राजनीतिक आंदोलन को अहिंसक रास्ते पर चलाना अपने-आपमें एक अनोखा प्रयोग था ही, उसके साथ सामाजिक और आर्थिक सरोकारों को जोड़कर उसे राष्ट्रव्यापी स्वरूप प्रदान करने की परिकल्पना तथा उसे कार्यरूप देने के कार्यक्रमों से सामाजिक चेतना लाने के सामुदायिक प्रयासों को एक नया आयाम मिल गया। इससे स्वतंत्र भारत में सामूहिक प्रयासों के लिए सुदृढ़ नींव भी पड़ गई।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में सामुदायिक प्रयासों के नए युग का सूत्रपात हुआ। अत: सामाजिक चेतना लाने वाले कार्यक्रम धार्मिक परिधि से बाहर निकलकर सामाजिक धरातल पर आ गए। चाहे सामाजिक कुरीतयां हों या साक्षरता, पर्यावरण हो अथवा नशाबंदी या फिर बाल मजदूरी व देवदासी प्रथा जैसी समस्याएं, सभी मोर्चों पर सामाजिक संगठनों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं ने लोगों में

जागरूकता लाने और उनके दृष्टिकोण व आचरण को बदलने का दायित्व संभाल लिया। इसके अलावा लोगों, विशेषकर दलितों तथा निर्धन वर्गों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जगाने के सामान्य कार्यक्रमों ने भी समूचे समाज को जागरूक बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। नारी-जागरण भारत में सामुदायिक प्रयासों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यद्यपि सरकार, संसद और न्यायपालिका भी इस श्रेय के हकदार है, किंतु बुनियादी योगदान स्वैच्छिक संगठनों व महिला आंदोलनों का रहा है।

स्वतंत्र भारत में सामुदायिक प्रयासों का मुकुट किसी एक पहलू के सिर बांधना हो तो यह साक्षरता है। यों तो 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने के संवैधानिक संकल्प को पूरा करने के सरकारी प्रयास नियोजित विकास के पहले दिन से प्रारंभ हो गए थे, किंतु आंकड़े बताते हैं कि जनसंख्या-वृद्धि तथा शिक्षा-पद्धति की कई खामियों के चलते हम इस लक्ष्य में बराबर पिछड़ते गए। साक्षरता या 'सब के लिए शिक्षा' की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति का आभास तब मिला जब इसे जन-आंदोलन का रूप देने का निश्चय किया गया। साक्षरता मिशन की स्थापना के बाद गांवों, पर्वतीय क्षेत्रों, रेगिस्तानी इलाकों और दूर-दराज के दुर्गम स्थानों तक शिक्षा का झंडा फहराने का जिम्मा सरकार के साथ--साथ स्वयंसेवी संगठनों, भजन-मंडलियों, सांस्कृतिक जत्थों और महिला संगठनों ने संभाल लिया। यह मूक क्रांति इतनी तेजी से चली कि 2001 की जनगणना के अस्थायी आंकड़ों के अनुसार साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत हो गई जबकि 1951 में यह केवल 18.33 थी। पुरुषों की साक्षरता दर 75.85 प्रतिशत तक और महिलाओं की साक्षरता दर 56.16 प्रतिशत हो गई। जाहिर है, स्त्रियों के प्रति असमानता के दृष्टिकोण को दूर करने और महिलाओं की साक्षरता दर बढ़ाने के लिए सामुदायिक प्रयासों में और तेजी लाने की आवश्यकता है।

1960 और 70 के दशकों में सामुदायिक प्रयासों के फलस्वरूप छोटे परिवार के सिद्धांत को लोकप्रिय बनाने में काफी सफलता मिली। उस दौर में आबादी पर काबू पाने का मंत्र सभी मंचों और माध्यमों से जन-जन तक पहुंचाया जाने लगा। यद्यपि सरकार ने दिशा दी और साधन उपलब्ध कराए, किंतु कुरीतियों में जकड़े समाज के गले जनसंख्या-नियंत्रण का संदेश उतारने का कठिन कार्य सामूहिक प्रयासों से ही संभव हुआ। उस दौर के अभियान का ही परिणाम है कि शिक्षित और अल्पशिक्षित मध्यम आय वर्ग के लोग छोटे परिवार की आवश्यकता को न केवल अच्छी तरह से समझने लगे हैं, बल्कि इसी के अनुरूप आचरण

भी कर रहे हैं। धीरे-धीरे यह सोच निम्न आय वर्गों तथा अशिक्षित लोगों तक भी पहुंच रही है। किंतु जनसंख्या-वृद्धि दर में वास्तविक कमी लाने के लिए अभी और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। 2001 की जनगणना में जनसंख्या-वृद्धि दर पिछले दशक के मुकाबले घटी है और आशा की जानी चाहिए कि इस क्षेत्र में जन-सहभागिता के बल पर प्रगति हासिल की जा सकेगी।

आजादी के बाद सामुदायिक प्रयासों का प्रभाव केवल साक्षरता और जनसंख्या-नियंत्रण तक सीमित नहीं रहा है। इनके फलस्वरूप अनेक सामाजिक और आर्थिक विषमताओं तथा समस्याओं को हल करने की दिशा में भी प्रगति हुई है। उदाहरण के लिए बंधुआ मजदूरी और बाल मजदूरी जैसे सामाजिक-आर्थिक कलंक को मिटाने के लिए कई संगठन प्रयत्नशील रहे हैं। कानूनी रूप से इन दोनों कुरीतियों पर प्रतिबंध है, परंतु अनेक लोग कानूनी प्रावधानों का उल्लंघन करते हैं। अनेक संगठन इन समस्याओं के खिलाफ आंदोलन चलाकर अथवा हड़ताल का सहारा लेकर इन अभिशापों से समाज को मुक्त कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ये समस्याएं समाप्त हो गई हैं, किंतु इतना दावे के साथ कहा जा सकता है कि आम समाज तथा शोषण से पीड़ित हो सकने वाले वर्गों में चेतना का तेजी से फैलाव होने से इन सामाजिक-आर्थिक कुरीतियों की रोकथाम अब पहले की भांति असंभव प्रतीत नहीं होती।

पर्यावरण-संरक्षण आधुनिक युग की नई और बहुत बड़ी चुनौती है। इसका सामना करने में भी सामुदायिक प्रयासों का योगदान कम नहीं है। कुछ वर्ष पहले उत्तरांचल में महिलाओं ने प्रसिद्ध पर्यावरणविद् सुंदरलाल बहुगुणा के नेतृत्व में 'चिपको आंदोलन' चलाकर पेड़ों की अंधाधुंध कटाई को रोकने में सफलता प्राप्त की। वह चेतना आज तक कायम है। इसी तरह 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' के अंतर्गत पर्यावरण की रक्षा के लिए सामूहिक धरने, प्रदर्शन तथा विरोध कार्यक्रम आयोजित किए गए, जिनसे उस क्षेत्र में ही नहीं, समूचे देश में पर्यावरण-रक्षा के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण हो रहा है। अन्य राज्यों में भी स्थानीय स्तर पर पर्यावरण की रक्षा के सामूहिक प्रयास चल रहे हैं।

ऊपर हमने साक्षरता-अभियान की चर्चा की है। इस अभियान के अंतर्गत स्वयंसेवी संस्थाओं ने सामाजिक कुरीतियां दूर करने में भी सफलता प्राप्त की। जो महिलाएं प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की मदद से साक्षर बनती हैं उनमें आत्मविश्वास और अपने अधिकारों के प्रति सजगता भी बढ़ती है और वे अन्याय का सामना करने में सक्षम बनती हैं। वे अपने पति तथा सास-बहू की ज्यादतियों का अधिक

विश्वास के साथ विरोध करती हैं, चुनावों में निष्पक्षता से मत देती हैं और अपने बच्चों, विशेषकर बेटियों को स्कूल भेजने पर जोर देती हैं। यही नहीं, साक्षरता-अभियान से जुड़े महिला संगठनों ने शराब, नशीले पदार्थों, जुआ और वेश्यावृत्ति जैसी कुरीतियों के खिलाफ भी आंदोलन छेड़े हैं। हरियाणा और आंध्र प्रदेश में शराब की लत के कारण होने वाले नुकसान को उजागर करते हुए महिला संगठनों ने इतने व्यापक जन-अभियान चलाए कि वहां राजनीतिक दलों को इस समस्या को चुनावी मुद्दा बनाना पड़ा और सत्ता में आने पर राज्य में शराबबंदी लागू करनी पड़ी।

सामूहिक प्रयासों से जिस एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर जनसामान्य का ध्यान केंद्रित करने में सफलता मिली है वह है— महिला-समानता और अधिकार। यद्यपि ये प्रयास अभी तक मुख्यतया शहरों तक सीमित हैं, लेकिन धीरे-धीरे यह एक स्थायी और सुदृढ़ आंदोलन का रूप लेते जा रहे हैं, जिसका प्रभाव-क्षेत्र आगे चलकर कस्बों व गांवों तक भी फैलेगा। राष्ट्रीय महिला आयोग की स्थापना, पंचायतों व नगरपालिकाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण और विधानसभाओं तथा लोकसभा में इस तरह के आरक्षण की संभावना, महिलाओं के आर्थिक स्वावलंबन की अनेक परियोजनाओं का क्रियान्वयन आदि सफलताएं महिला-समानता की दृष्टि से शुभ संकेत हैं।

अब जबकि दुनिया और सिकुड़ रही है तथा ग्लोबल विलेज की अवधारणा विकसित हो रही है, सामूहिक चेतना का दायरा और विस्तृत होता जाएगा। अब बहुत-से मुद्दे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उठाए जा रहे हैं तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं और संयुक्त राष्ट्र की एजेंसियां विभिन्न देशों में सामाजिक चेतना के प्रयासों को प्रोत्साहन और समर्थन देने लगी हैं। कुपोषण, बाल-स्वास्थ्य, घातक रोगों का इलाज, नशीले पदार्थों की रोकथाम, एड्स नियंत्रण, रक्तदान जैसे अनेक नए क्षेत्र उभर रहे हैं, जिनमें सामुदायिक आधार पर कार्यक्रम चलाकर लोगों में न केवल चेतना पैदा की जा सकती है बल्कि उनकी भागीदारी से सकारात्मक परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। भारत लोकतांत्रिक देश है और लोकतंत्र में जनता की भागीदारी का विशेष महत्त्व है, अतः हमारे यहां सामुदायिक कार्यक्रमों के अब तक के सुखद परिणामों को देखते हुए सामूहिक व सामुदायिक प्रयासों को मजबूत बनाने तथा उनमें तेजी लाने की दिशा में बहुत कुछ किए जाने की आवश्यकता है।

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य के आत्मिक, चारित्रिक और भौतिक विकास के साथ-साथ समाज और राष्ट्र की प्रगति में भी सहायक होती है। शिक्षा व्यक्ति को आत्म-विकास की प्रेरणा व शक्ति देती है और अपने आसपास की समस्याओं और आवश्यकताओं को समझने तथा अपने एवं समाज की प्रगति यानी व्यष्टि व समष्टि में संतुलन कायम करने की सूझ तथा क्षमता प्रदान करती है। इसलिए मानव के विकास में शिक्षा का बुनियादी योगदान रहा है।

भारत प्राचीन काल में भले ही ज्ञान एवं शिक्षा का प्रमुख केंद्र रहा, किंतु मध्यकाल में कई कारणों से यह जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति शिक्षा के क्षेत्र में भी पिछड़ गया। पराभव के उस कालखंड में शिक्षा जहां एक ओर काफी हद तक उपेक्षित हो गई, वहीं समाज के अधिकांश वर्गों तथा महिलाओं को शिक्षा-प्राप्ति से वंचित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप ज्ञान, संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अवरुद्ध हो गई तथा समाज मानव कल्याण के अपने परंपरागत उद्देश्य से भटक गया।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति की एक विशेषता यह है कि यह लोकतांत्रिक है अर्थात इसमें सभी वर्गों के विद्यार्थियों को एक जैसी शिक्षण-संस्थाओं में एक समान शिक्षा दी जाती है और साथ ही इसमें महिला-शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यद्यपि सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक अंधविश्वासों के कारण आधुनिक शिक्षा-प्रणाली शुरू होने के कुछ समय बाद तक लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने के विचार का विभिन्न स्तरों पर विरोध हुआ, किंतु धीरे-धीरे, विशेषकर स्वतंत्रता के पश्चात, यह विरोध कमजोर पड़ता गया और अधिक से अधिक लोग लड़कियों को शिक्षित करने की आवश्यकता को समझने लगे। यह सच है कि आज स्कूलों में जाने वाले लड़कों तथा लड़कियों की संख्या और महिला-पुरुष साक्षरता दर में काफी अंतर है, मगर इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि व्यावहारिक स्तर पर अनेक बाधाओं के बावजूद सैद्धांतिक रूप से अधिकतर परिवार, विशेषकर शहरी लोग, अपनी लड़कियों को शिक्षित करने की उपयोगिता

को स्वीकार करने लगे हैं। जिस समाज में 50-60 साल पहले तक स्त्री-शिक्षा निषिद्ध थी, उस समाज में लड़कियों को साक्षर बनाने के विचार को सामाजिक स्वीकृति मिल जाना अपने-आपमें छोटी उपलब्धि नहीं है।

वर्तमान दौर में शिक्षा का महत्त्व इसलिए बढ़ गया है क्योंकि लोग बड़ी तेजी से यह समझ रहे हैं कि शिक्षा आत्मविश्वास, स्वाभिमान तथा संकल्प जैसे नैतिक एवं चारित्रिक गुण विकसित करने के अतिरिक्त आर्थिक स्वावलंबन की सीढ़ियों पर चढ़ने की योग्यता व शक्ति प्रदान करती है। सच तो यह है कि शिक्षा इस समय सामाजिक संरचना तथा उसके संचालन की सोच और कार्यनीति का अनिवार्य अंग बन चुकी है।

स्वतंत्रता के बाद हमारे देश के नीति निर्धारकों ने राष्ट्रीय विकास एवं उत्थान का जो एजेंडा अपनाया उसके अधिकतर पहलुओं की नींव वास्तव में हमारे स्वाधीनता आंदोलन में ही पड़ चुकी थी। शिक्षा भी ऐसा ही मुद्दा है। हमारे देश में उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के दौर में ही शिक्षा के समर्थन में आवाज उठने लगी थी। इस प्रकार सरकारी प्रयासों से पहले ही अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि धार्मिक संस्थाओं ने शिक्षा-प्रचार के प्रयास शुरू कर दिए थे।

ब्रिटिश सरकार ने मूलतः अपना शासन चलाने में सक्षम भारतीय तैयार करने के उद्देश्य से शिक्षा-पद्धति लागू की, किंतु शिक्षा कैसी भी हो, वह अपने मूल उद्देश्य यानी चेतना पैदा करने में विफल नहीं होती। अतः ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित शिक्षा-पद्धति से ही निकले कुछ लोगों को लगा कि भारतवासियों को भारतीय परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों के अनुरूप शिक्षा देने की आवश्यकता है। इसी एहसास या चेतना के कारण सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों के साथ-साथ गैर-सरकारी शिक्षा-संस्थाएं भी शिक्षा के प्रसार का दायित्व निभाने लगीं।

इन दोनों स्तरों पर काम करने वाली संस्थाओं ने स्वतंत्रता के बाद अपनी गतिविधियों का और विस्तार किया, जिनमें बालिकाओं को शिक्षा प्रदान करने के विशेष प्रयास भी शामिल हैं। स्वतंत्र भारत ने जो संविधान स्वीकार किया उसमें 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प व्यक्त किया गया। वैसे यह खेद का विषय है कि यह संकल्प अभी तक अधूरा है। फिर भी सरकारी व गैर-सरकारी स्तरों पर किए गए प्रयासों के फलस्वरूप देश में साक्षरता दर में निरंतर वृद्धि हो रही है। 20वीं सदी के अंत तक सबके लिए शिक्षा मुहैया करने का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन हम अभी

इस लक्ष्य से काफी दूर हैं। फिर भी पुरुष और महिला-साक्षरता में दर-वृद्धि के आंकड़े लगातार ऊपर की ओर जाते दिखाई दे रहे हैं। यह उपलब्धि इस तथ्य के बावजूद है कि देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती रही है। यदि जनसंख्या-नियंत्रण की कार्यनीति पर सही ढंग से अमल किया जाता तो साक्षरता के आंकड़े अवश्य ही अधिक उत्साहवर्द्धक होते। देश में औसत साक्षरता दर 1951 में केवल 18.33 प्रतिशत थी जो 2001 की जनगणना के अनुसार 65.38 यानी लगभग साढ़े तीन गुना हो गई। इसी तरह पुरुषों की साक्षरता दर इसी अवधि में 27.16 से बढ़कर 75.85 हो गई जो लगभग ढाई गुना वृद्धि की द्योतक है। किंतु महिला साक्षरता में लगभग छह गुना वृद्धि हुई है, जो 1951 में 8.86 से बढ़कर 2001 में 54.16 प्रतिशत हो गई। एक और उत्साहवर्द्धक पहलू यह है कि महिला-साक्षरता की दर में 1980 तथा 1990 के दशकों में उनसे पिछले दशकों के मुकाबले कहीं ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा किसी भी समाज के समग्र विकास की बुनियाद है। आर्थिक प्रगति और शिक्षा का तो चोली-दामन का साथ है।

साफ देखा जा सकता है कि जिन देशों में साक्षरता की दर ऊंची है वे आर्थिक रूप से भी उन्नत हैं। दूसरी ओर, अविकसित और विकासशील देश साक्षरता के मामले में भी पिछड़े हुए हैं। यह बात अपने देश के विभिन्न राज्यों में साक्षरता और विकास में विषमता के रूप में भी सामने आती है। उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्यप्रदेश जैसे जिन राज्यों में साक्षरता की दर कम है, वे न केवल प्रति व्यक्ति आय के मामले में बल्कि स्वास्थ्य, जनसंख्या-नियंत्रण, सामाजिक चेतना जैसे मामलों में भी अपेक्षाकृत पीछे हैं।

दक्षिण एशिया में मानव संसाधन विकास के बारे में संयुक्त राष्ट्र द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट के मुताबिक, विश्व में सबसे अधिक संख्या में अनपढ़ लोग भारत में हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि यहां अशिक्षित लोगों की संख्या अमेरिका, जापान और कनाडा की समूची आबादी से भी अधिक है। इस स्थिति के कारणों का विश्लेषण करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि प्राइमरी स्कूलों की दयनीय स्थिति इसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार है। इसके अलावा बीच में पढ़ाई छोड़ देने की प्रवृत्ति के कारण भी साक्षरता की मंजिल तक सभी लोग नहीं पहुंच पाते।

संयुक्त राष्ट्र की इस रिपोर्ट में बताए गए तथ्यों की पुष्टि हमारे देश के अपने अध्ययनों में भी हो जाती है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अपने आंकड़ों के मुताबिक पहली से पांचवीं कक्षा तक 36.3 प्रतिशत और छठी से

आठवीं कक्षा के बीच 56 प्रतिशत से अधिक बच्चे पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं। इसलिए पढ़ाई बीच में छोड़ने वाले बच्चों, विशेषकर बालिकाओं का प्रतिशत ऊंचा होना शिक्षाशास्त्रियों के लिए चिंता का विषय बना हुआ है। किंतु कुछ राज्यों में अनुसूचित जातियों/जनजातियों और पिछड़े इलाकों में रहने वाली बच्चियों को पाठ्य सामग्री और वार्दियां मुफ्त देने के साथ-साथ रोज स्कूल आने वाली बच्चियों को वित्तीय सहायता देने के उपायों के अच्छे परिणाम देखे गए हैं। इन उपायों के फलस्वरूप पढ़ाई बीच में छोड़ने यानी 'ड्राप आउट' की दर में कमी दर्ज की गई है।

बालिका-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि सामान्य शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा में भी लड़कियां न केवल बढ़-चढ़कर भाग ले रही हैं अपितु विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरी, कंप्यूटर, वकालत जैसे उन विषयों की शिक्षा के लिए भी आगे आ रही हैं जो अब तक उनके लिए निषिद्ध माने जाते थे। लड़कियों के लिए अलग पॉलिटेकनीक कालेज खुल जाने से वे तकनीकी विषयों की पढ़ाई भी निस्संकोच कर रही हैं और कई क्षेत्रों में तो वे लड़कों से भी आगे निकल रही हैं।

स्कूलों में आवश्यक बुनियादी सुविधाओं का अभाव भी साक्षरता दर में बढ़ोत्तरी की धीमी गति का एक मुख्य कारण है। कुछ समय पहले यह तथ्य सामने आया कि दिल्ली के अनेक सरकारी प्राथमिक विद्यालयों की इमारतें खस्ता हालत में हैं। पीने के स्वच्छ पानी का कोई इंतजाम नहीं है और कुछ स्कूलों की बिजली कटी हुई है। इसके अलावा बारिश के मौसम में बहुत-से स्कूलों में पानी-भर जाता है, जिससे लगातार कई दिन स्कूल बंद रहते हैं। जब देश की राजधानी के स्कूलों की ऐसी दुर्दशा है तो गांवों, छोटे शहरों और दूरदराज के स्थानों के प्राथमिक स्कूलों की क्या हालत होगी, इसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। गांवों में बहुत-से स्कूलों में इन सुविधाओं की कमी के साथ-साथ अध्यापकों का भी अभाव रहता है। स्कूलों में बुनियादी सुविधाएं मुहैया कराने के उद्देश्य से 1987-88 में 'आपरेशन ब्लैकबोर्ड' नाम की योजना चलाई गई थी, जिसके शुरू में तो अच्छे परिणाम मिले लेकिन बाद में इसमें ढिलाई आती गई। इस योजना को मुस्तैदी के साथ लागू किया जाए तो विद्यालयों की दशा सुधारने में काफी सफलता मिल सकती है।

कुशल अध्यापकों की कमी पूरी करने के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) ने राज्यों की अध्यापक प्रशिक्षण परिषदों

की मदद से अध्यापक प्रशिक्षण सुविधाओं का काफी विस्तार किया है। 1995 में राष्ट्रीय अध्यापक प्रशिक्षण परिषद् गठित की गई जो देश-भर में अध्यापकों के प्रशिक्षण से जुड़ी गतिविधियों में तालमेल का काम करती है। शिक्षा, शिक्षक तथा साक्षरता के महत्त्व पर लोगों में जागरूकता लाने के लिए हर वर्ष 5 सितंबर को अध्यापक दिवस और 8 दिसंबर को अंतरराष्ट्रीय साक्षरता दिवस मनाया जाता है।

इसी सिलसिले में कई राज्यों में साक्षरता सप्ताह मनाए जाते हैं और शिक्षा और साक्षरता के प्रसार के विशेष अभियान चलाए जाते हैं। इनके अंतर्गत समाज के विकास में शिक्षा तथा शिक्षकों की मूल्यवान भूमिका पर प्रकाश डालते हुए लोगों, विशेषकर उपेक्षित वर्गों के लोगों को साक्षर बनाने की प्रेरणा देने के प्रयास किए जाते हैं।

यह भी सच है कि सबके लिए शिक्षा सुलभ बनाने का लक्ष्य केवल सरकारी प्रयासों और औपचारिक शिक्षा-पद्धति के जरिए पूरा नहीं हो सकता। इसलिए जब नई शिक्षा-नीति अपनाई गई तो उसमें अनौपचारिक शिक्षा-तंत्र कायम करने पर बल दिया गया। इसके अंतर्गत शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े राज्यों पर विशेष ध्यान देते हुए गांवों, शहरी पुनर्वास बस्तियों, कारखानों तथा कामकाज के अन्य स्थानों पर अनियमित शिक्षा केंद्र शुरू किए गए हैं, जिनमें कामकाजी बच्चे अपनी सुविधा और समय के मुताबिक पढ़ाई-लिखाई कर सकते हैं। इनमें लड़कियों की शिक्षा पर ज्यादा जोर दिया जाता है। इन शिक्षा केंद्रों के संचालन में स्वयंसेवी संस्थाओं का पूरा सहयोग लिया जाता है।

अनौपचारिक शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में बहुत से गैर-सरकारी संगठनों ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। इस दृष्टि से पूर्ण साक्षरता-अभियान एक अनोखी मिसाल है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की अगुआई में चल रहा यह अभियान दो दृष्टियों से विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि इसमें ज्यादातर काम गैर-सरकारी स्तर पर किया जा रहा है। न केवल संस्थाएं बल्कि बुद्धिजीवी, कवि, कलाकार, लेखक आदि भी इसमें पूरा सहयोग दे रहे हैं। दूसरे, महिलाओं को शिक्षित और जागरूक बनाने में इसका भारी योगदान है। इसके अंतर्गत साक्षर बनने वाली महिलाएं सबसे पहला काम बेटियों को स्कूल भेजने का करती हैं। यही नहीं, इस अभियान से प्रेरित होकर महिलाएं दहेज-उन्मूलन, पर्यावरण-रक्षा, नशाबंदी जैसे उन सामाजिक आंदोलनों में भी हिस्सा लेने लगी हैं, जिनका सबसे ज्यादा प्रभाव महिलाओं के जीवन पर पड़ता है। यह अभियान देश के लगभग 500 जिलों में पहुंच चुका है।

शिक्षा के प्रसार को व्यावहारिक तथा सरल बनाने के लिए प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा में परिवर्तन करते हुए अब बच्चों की स्कूलों में भर्ती की बजाय उन्हें न्यूनतम शिक्षा देने पर अधिक बल दिया जा रहा है। माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा को भी स्कूली शिक्षा के दायरे से बाहर निकालकर कुछ राज्यों ने पत्राचार की दिशा में कदम बढ़ाए हैं। राष्ट्रीय ओपन स्कूल ने इस मामले में अन्य संस्थाओं के लिए आदर्श शिक्षा-प्रणाली पेश की है। इन प्रयासों से उन लोगों तक शिक्षा की महक पहुंचाने में मदद मिल रही है जो विभिन्न कारणों से बचपन में शिक्षा-सुविधाओं से वंचित रह गए।

वास्तव में प्राथमिक और अनौपचारिक शिक्षा समूची विकास-प्रक्रिया की आधारभूत आवश्यकता है। उच्च शिक्षा और तकनीकी शिक्षा तो बहुत कम लोगों को सुलभ हो पाती है किंतु सब लोगों को इतना साक्षर तो बनाया ही जाना चाहिए कि वे अपना भला-बुरा समझ सकें और व्यावहारिक काम-काज में लिखा-पढ़ी कर सकें। इसलिए औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों स्तरों पर प्राथमिक शिक्षा के केंद्रों और साक्षरता केंद्रों की न केवल संख्या बढ़ाने की, बल्कि मौजूदा केंद्रों में बेहतर सुविधाएं उपलब्ध कराने की आवश्यकता है ताकि सभी वर्गों, विशेषकर पिछड़े, निर्धन और ग्रामीण समुदायों के अधिक से अधिक बच्चे शिक्षित होकर अपने और समाज के विकास में सहभागी बन सकें। इस काम में सरकार और गैर-सरकारी संगठनों के साथ-साथ निजी क्षेत्र को भी हाथ बंटाना चाहिए। निजी क्षेत्र के लिए नया नारा होना चाहिए—'शिक्षा दान महाकल्याण।'

नारी समानता : यथार्थ या स्वप्न?

हिंदी की बहुचर्चित कथाकार मृदुला गर्ग ने साहित्यिक पत्रिका 'आजकल' के जुलाई-2001 अंक में प्रकाशित साक्षात्कार में कहा कि 'नारी-मुक्ति आज भी दिवास्वप्न है।' एक अनुभवी तथा प्रतिष्ठित लेखिका की इस प्रकार की स्पष्टोक्ति यह सोचने को विवश करती है कि महिलाओं को समानता, सम्मान और अधिकार देने की दिशा में अब तक किए गए बहु आयामी प्रयास क्या व्यर्थ रहे हैं? क्या महिला-पुरुष समानता का सपना साकार करने में कुछ और सदियां लगेंगी? ऐसे में उस भविष्यवाणी का क्या होगा जिसमें 21वीं सदी को महिलाओं की सदी बताया जा रहा है? यह तो कोई नहीं मान रहा था कि महिलाएं पुरुषों के समान हो गई हैं, किंतु उपरोक्त घोषणा ने अनेक संवेदनशील और महिला-समानता के पक्षधर लोगों की आशंकाओं और चिंताओं को और गहरा बना दिया है। यह प्रश्न इसलिए भी समीचीन हो उठा है कि नई सदी के पहले साल यानी वर्ष 2001 को भारत ने 'महिला सशक्तीकरण वर्ष' घोषित किया। इस संदर्भ में यह विश्लेषण करना आवश्यक हो गया है कि भारतीय महिलाएं समानता या मुक्ति की दिशा में कितने कदम आगे बढ़ी हैं और अभी उनकी मंजिल कितनी दूर है। साथ में यह भी कि क्या इक्कीसवीं सदी महिलाओं की सदी होगी?

इस विश्लेषण की दो विधियां हैं। एक तो यह कि प्राचीनकाल अथवा वैदिक युग के भारतीय समाज में नारी की स्थिति को महिमामंडित करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जाए कि हमारे प्राचीन समाज में नारी को आदर्श स्थिति प्राप्त थी, जो मध्यकाल में आकर बदतर हुई और आज की नारी भारतीय मर्यादाओं को लांघकर पश्चिमी संस्कृति के दुष्प्रभाव के कारण स्वच्छंदता की ओर बढ़ रही है। दूसरा तरीका यह है कि आधुनिक युग में प्रारंभ हुए नारी-मुक्ति आंदोलन के संदर्भ में यह विचार किया जाए कि भारतीय नारी आगे बढ़ी है या नहीं और अगर बढ़ी है तो कितना?

जब हम भारतीय महिलाओं की विकास-यात्रा पर नजर डालते हैं तो इस बात पर संतोष होता है कि घर की चारदीवारी को ही अपनी सार्थकता की पहचान

मानने वाली औरतें आज न केवल अपने अस्तित्व, बल्कि अपनी स्वतंत्र सत्ता के प्रति भी सचेत हैं। 19वीं सदी में भावात्मक स्तर पर शुरू हुआ नारी जागरण का प्रयास बीसवीं सदी के अंत में एक व्यापक आंदोलन में बदल गया। संपन्न और उच्च परिवारों से प्रारंभ हुए महिला शिक्षा-अभियान ने सदी के अंत तक विशाल रूप धारण कर लिया और भले ही लगभग आधी औरतें अभी अनपढ़ हैं, किंतु लड़की को शिक्षित करने की महत्ता को लोग समझ गए हैं। महिला साक्षरता दर अब पुरुष साक्षरता दर की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है तथा विभिन्न परीक्षाओं व प्रतियोगिताओं में लड़कियां लड़कों से आगे निकल रही हैं। भारत जैसे परंपरावादी समाज में यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। शिक्षा की सीढ़ियों पर चढ़कर महिलाएं आज आर्थिक स्वावलंबन की मंजिल की ओर बढ़ रही हैं। यह बोध बड़ी तेजी से जड़ें जमा रहा है कि आर्थिक स्वावलंबन से ही पुरुष पर नारी की निर्भरता कम हो सकती है। वास्तव में पुरुष पर यह निर्भरता ही महिलाओं के प्रति असमानता और भेदभाव का सबसे बड़ा आधार है। बड़ी-बड़ी परियोजनाओं और संस्थाओं के संचालन तक के सब प्रकार के दायित्व संभालने में महिलाएं अपने सामर्थ्य एवं क्षमता का परिचय दे चुकी हैं और दे रही हैं। राजनीति, व्यवसाय, व्यापार, वाणिज्य, चिकित्सा, इंजीनियरी, प्रशासन, शिक्षा, कला, साहित्य और यहां तक कि सेना और पुलिस जैसे कठोर समझे जाने वाले व्यवसायों में भी महिलाएं आज सफलता के साथ काम कर रही हैं।

पंचायतों और नगर पालिकाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण और राष्ट्रीय महिला आयोग जैसी संस्थागत व्यवस्थाएं महिलाओं को अधिकारसंपन्न बनाने की दिशा में अत्यंत उत्साहवर्धक और आशाजनक कदम हैं। स्थानीय स्वायत्त शासन-तंत्र में महिलाओं के प्रवेश से औरतों को अपनी प्रशासनिक तथा प्रबंधकीय क्षमताओं को पहचानने का अवसर मिला है और इन संस्थाओं के काम-काज में रचनात्मक परिवर्तन आता दिखाई दे रहा है। इस प्रकार सत्ता और निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

एक समय था जब राजनीति, समाज-सेवा और समाज-सुधार पुरुषों के ही क्षेत्र माने जाते थे। किंतु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध ने लंबी करवट ली और समाज में बदलाव लाने और अन्याय का विरोध करने के हर आंदोलन में बहुत-सी महिलाएं अग्रणी भूमिका निभाने लगीं। बीसवीं सदी का अंतिम दशक इस तथ्य का साक्षी रहा है कि तमाम स्वैच्छिक प्रयासों का नेतृत्व लगभग महिलाओं के हाथों में पहुंच चुका है। महिलाएं गांवों, आदिवासी क्षेत्रों और शहरी तंग बस्तियों

जैसे उपेक्षित स्थानों व वर्गों में शिक्षा, जागरूकता, स्वास्थ्य की देखरेख, समाज-सुधार, बाल-कल्याण, वेश्या-सहायता जैसे कल्याणकारी कार्य पूरी सफलता के साथ चला रही हैं।

यौन शोषण और इस शोषण को चुपचाप सहने की प्रवृत्ति को अपनी नियति तथा शील का अंग मान लेने के विश्वास के चलते लड़कियां घर, गली, सड़क तथा काम के स्थानों पर होने वाले अत्याचारों व अन्याय को चुपचाप सहती आई थीं। किंतु स्वतंत्रता के बाद बनाए गए नए कानूनों और पुराने प्रावधानों में किए संशोधनों और अदालतों, विशेषकर उच्चतम न्यायालय के कुछ क्रांतिकारी निर्णयों और विभिन्न संगठनों की सहायता तथा क्रियाशीलता ने इस स्थिति में काफी बदलाव ला दिया है। मारपीट तथा अन्य अत्याचारों को मौन रहकर झेलने की प्रवृत्ति का स्थान ज्यादतियों का प्रतिकार करने, पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराने, अदालती लड़ाई लड़ने तथा आवश्यकता पड़ने पर सामूहिक विरोध करने की प्रवृत्ति ने ले लिया है। यह चेतना केवल महिलाओं में नहीं आ रही, बल्कि समूचा समाज जागरूक बन रहा है। पहले मां-बाप बदनामी के डर से लड़कियों के साथ हुई ज्यादती की खबर को दबाने में ही परिवार का हित मानते थे। अब बहुत-से मां-बाप तथा रिश्तेदार इन अत्याचारों का विरोध करने और अपराधियों को दंड दिलाने के लिए आगे आने लगे हैं। स्त्री को सबल बनाने की दिशा में यह बहुत बड़ा परिवर्तन है क्योंकि यौन संबंधी अपराधों का सामाजिक कलंक मुख्यतया औरत को ही झेलना पड़ता है। समाज की सोच में आ रहे इस परिवर्तन के फलस्वरूप नारी को सदैव कमजोर और हीन मानने की परंपरागत ग्रंथि अब ढीली पड़ने लगी है। जिस दिन सेक्स से जुड़ी ज्यादतियों का संबंध औरत की इज्जत, शील और चरित्र से नहीं रहेगा, उस दिन महिला सशक्तीकरण व समानता के रास्ते की आधी कठिनाइयां स्वत: ही दूर हो जाएंगी।

इस प्रकार विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप और विश्वव्यापी परिवर्तनों के प्रभाव के चलते भारतीय महिलाओं के जीवन में उल्लेखनीय बदलाव आया है। किंतु जैसे-जैसे शहरों से गांवों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे इन सभी रचनात्मक पहलुओं की व्यापकता और सघनता कम होती जाती है। आदिवासी इलाकों और दूर-दराज के गांवों में आज भी विकास के तथाकथित सूर्य के स्थान पर मिट्टी का दीया ही टिमटिमाता नजर आता है। ग्रामीण भारत की सबसे बड़ी आर्थिक गतिविधि कृषि है और उसमें महिलाओं का योगदान मात्रा की दृष्टि से अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। किंतु आज तक महिलाओं को जमीन के मालिकाना अधिकार मिलने

की बात तो दूर, उन्हें किसान के रूप में मान्यता तक नहीं मिली है। महिला अधिकारों के लिए सामूहिक लड़ाई की मोर्चाबंदी भी गांवों में सिरे से नदारद है, जबकि स्त्री-पुरुष असमानता तथा नारी-शोषण का सबसे अधिक प्रकोप गांवों में ही है। 70 प्रतिशत से अधिक आबादी वाले ग्रामीण भारत में नारी-जागरण रूपी ज्योति की मद्धिम-सी लौ में नारी समानता की तसवीर बहुत-ही धुंधली दिखाई देती है।

शहरी और ग्रामीण परिस्थितियों में इस चिंतनीय अंतर के अलावा और भी अनेक पहलू हैं जो शहरी महिलाओं की मुक्ति को भी नकारते दिखाई देते हैं। जिन परंपराओं और मान्यताओं ने स्त्री को हमेशा कमजोर और बंदिनी बनाए रखने में सक्रिय भूमिका निभाई है वे थोड़ी-बहुत कमजोर भले ही पड़ी हों, उनकी जकड़न आज भी बहुसंख्य लड़कियों और औरतों पर हावी है। इनमें से कुछ मान्यताएं और परंपराएं तो विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विकास और आर्थिक समृद्धि की हवा पाकर और अधिक व्यापक तथा खतरनाक रूप ले रही हैं। उदाहरण के लिए लड़की की तुलना में लड़के की चाह, लालन-पालन एवं शिक्षा-दीक्षा में अंतर की प्रवृत्ति में कमी अवश्य आई है, किंतु यह आज भी प्रभावशाली रूप में मौजूद है। जन्म लेते ही कन्या की हत्या कई स्थानों पर हो रही है। शहरों में कन्या भ्रूणों का गर्भपात कोई असहज घटना नहीं है। इन्हीं प्रवृत्तियों का परिणाम है कि शिक्षा के प्रसार और तथाकथित जागरूकता के बावजूद पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या का अनुपात कम हो रहा है। 2001 की जनगणना में पिछले दशक की तुलना में यह अनुपात और घटा है। हैरत की बात यह है कि पंजाब, हरियाणा जैसे जागरूक और विकसित माने जाने वाले राज्यों में यह कमी भयावह रही है।

यों तो हमारा समूचा सामाजिक ढांचा जाति व लिंग के आधार पर भेदभाव को बढ़ावा देता है, किंतु दहेज, बाल-विवाह, वेश्यावृत्ति जैसी जो कुप्रथाएं स्त्री को कमजोर बनाती हैं, उनमें कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। बाल-विवाह अवश्य कम हुए हैं, किंतु अन्य अनेक कुप्रथाओं की विकरालता घटने की बजाय बढ़ गई। उपभोक्तावाद के बढ़ते प्रभाव के कारण दहेज का दानव और भयावह बन गया है। दहेज के लोभ में बहुओं को सताने, जलाने तथा मार डालने की घटनाएं कम नहीं होती दिखाई देतीं।

कस्बों व शहरों में स्कूलों, कालेजों, सार्वजनिक स्थलों, बसों आदि में लड़कियों से छेड़छाड़ की वर्षों पुरानी बीमारी अभी तक लाइलाज है। भोली-भाली, विशेष रूप से निर्धन और गरीबी, सौतेलेपन, दहेज आदि के कारण परिवार

द्वारा सताई गई लड़कियों को गुमराह करके या उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर उन्हें वेश्यावृत्ति के नरक में धकेलने का धंधा बदस्तूर जारी है। कई स्थानों पर लड़कियों और महिलाओं को जिन्सों की भांति खरीदा और बेचा जाता है। बलात्कार स्त्री के प्रति होने वाला सबसे जघन्य अपराध है और इसका प्रकोप कम होने के स्थान पर विकराल रूप लेता जा रहा है। एक-दो साल की अबोध कन्याओं को भी हवस का शिकार बनाने के शर्मनाक मामले सामने आ रहे हैं। ये सभी कुरीतियां और ज्यादतियां मां-बाप के मन में इस मान्यता को और पुख्ता करती हैं कि लड़की की बजाय लड़का होना बेहतर है।

इस तरह समाज में लंबे समय से चली आ रही अधिकांश परंपराओं में कोई सुधार न होने तथा कुछ परांपराओं के और हानिकारक हो जाने के कारण स्त्री के प्रति भेदभाव में कमी न आना सचमुच चिंता का कारण है। परंतु भेदभाव और असमानता की सोच और आचरण यहीं तक सीमित नहीं है। जो क्षेत्र पूरी तरह आधुनिक हैं, उनमें भी पुरुष वर्ग स्त्रियों का शोषण करने तथा उन्हें अपने से हेय और अधीन बनाए रखने के नए-नए उपाय ढूंढ़ता व अपनाता रहता है। आधुनिक सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में आजादी और स्वावलंबन की ओर बढ़ रही महिलाओं के शोषण एवं उत्पीड़न के भी नए-नए पहलू जुड़ते जा रहे हैं। परंपरा और आधुनिकता के इन दो पाटों में फंसी भारतीय महिलाएं किस तरह इक्कीसवीं सदी को फतह कर पाएंगी, यह सचमुच विचारणीय विषय है।

स्त्री की सार्थकता उसकी शारीरिक सुंदरता और सौष्ठव से आंकने का पौराणिक पैमाना विविध गुणों एवं क्षमताओं से संपन्न आधुनिक महिलाओं पर भी आजमाया जा रहा है। फिल्मों तथा टेलीविजन के कार्यक्रमों व विज्ञापनों ने इस असंतुलित एवं दुराग्रहपूर्ण दृष्टि की और हवा दी है। किसी को यह बात विचित्र नहीं लगती कि फिल्मों में औरत कितनी ही बड़ी कलाकार क्यों न हो, विवाह होने या मां बनते ही उसके हीरोइन बनने की संभावनाएं चुकने लगती हैं, जबकि पुरुष 60 साल की उम्र में भी युवा हीरो के रूप में परदे पर देखे जा सकते हैं। सौंदर्य प्रतियोगिताओं, गीत-संगीत कार्यक्रमों, फैशन शो आदि में बदन उघाड़ने की होड़ और ब्यूटी पार्लरों के प्रति बढ़ता आकर्षण इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि औरत शिक्षित और जागरूक बनने के बाद भी स्वयं को पुरुष की निगाह से देखती है। पुरुष की गुणवत्ता का मूल्यांकन उसकी बुद्धि, आर्थिक स्थिति तथा अन्य विशेषताओं के आधार पर होता है, जबकि स्त्री के मूल्यांकन का सबसे बड़ा आधार उसका शरीर रहता है।

आधुनिक औरत को जो आधी-अधूरी आजादी मिली है, उसकी भी कीमत वसूल की जा रही है। इस आजादी की आड़ में शारीरिक एवं यौन शोषण के मौके तलाशे जाते हैं। यह ठीक है कि लड़कियां पहले की तरह मोम की गुड़िया नहीं रहीं, किंतु बहुत से मामलों में लड़कियों की हिम्मत और बोल्डनेस को पुरुष के साथ यौन संबंध तक सीमित करने का प्रयास किया जाता है। शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से समर्थ महिलाएं भी विवाह तथा संतान-प्राप्ति के मामले में आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित हैं। विवाह के लिए लड़कियों की इच्छा की अवहेलना करना और कुल-वंश की इज्जत के नाम पर दबकर रहने का संस्कार आज भी अच्छे घरों का लक्षण माना जाता है। शिक्षित मध्यवर्गीय समाज में भी विधवा और विधुर तथा तलाकशुदा औरत और तलाकशुदा पुरुष की सामाजिक हैसियत में जमीन-आसमान का अंतर है। शिक्षित परिवारों में भी महिलाएं और लड़कियां पारिवारिक हिंसा की शिकार हो रही हैं। उच्चतम न्यायालय के कठोर निर्देशों तथा सरकार द्वारा नियम जारी किए जाने के बावजूद काम के स्थानों पर उच्च अधिकारियों तथा मालिकों द्वारा अधीनस्थ महिला कर्मचारियों का यौन शोषण किया जाता है। यह सही है कि अब शर्म और लाज की परवाह न करके ऐसे अन्याय का प्रतिकार करने और कानून का सहारा लेने वाली महिलाओं की संख्या बढ़ रही है, परंतु इस स्थिति का सबसे निराशाजनक पहलू यह है कि पुलिस और कानून का भ्रष्ट, सुस्त और संवेदनशून्य तंत्र महिलाओं को न्याय दिलाने में विफल साबित हो रहा है। बलात्कार के लिए अत्यंत कठोर दंड की व्यवस्था की गई है, किंतु हजार में से दो मामलों में ही अपराधी दंडित हो पाते हैं।

आधुनिक औरतों ने अर्थोपार्जन करने में सक्षम हो जाने के कारण पुरुष के समान आर्थिक दर्जा भले ही प्राप्त कर लिया है, परंतु परिवार तथा समाज में उसी के अनुरूप उन्हें सम्मान और आराम नहीं मिला है। उन्हें व्यावसायिक जिम्मेदारियों के साथ-साथ घर-गृहस्थी का दायित्व भी पहले की तरह निभाना पड़ता है। पत्नी की शिक्षा, योग्यता और आर्थिक क्षमता कैसी भी हो, पति ही घर-परिवार का स्वामी माना जाता है और स्त्री को गौण तथा अधीनस्थ दर्जा दिया जाता है।

स्त्री को 'व्यक्ति' की बजाय 'वस्तु' मानकर चलने का दृष्टिकोण कायम है। विज्ञापनों में स्त्री के शरीर को उत्पाद की लोकप्रियता बढ़ाने के साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। सिगरेट, साबुन जैसी रोजमर्रा की वस्तुओं से लेकर टी.वी., फ्रिज और कार की बिक्री तक के लिए महिलाओं के शरीर का अश्लील और अपमानजनक प्रदर्शन करके ग्राहकों को रिझाने का प्रयास किया जाता है।

इससे औरत की गरिमा और सम्मान को गहरी चोट पहुंचती है। इस प्रकार परंपरा की भांति आधुनिकता भी औरतों के रुतबे को ऊंचा उठाने के बजाए नीचे गिराने में सहायक हो रही है।

जाहिर है कि स्त्रियों के बहुत बड़े वर्ग में, विशेषकर शहरी वर्ग में, समानता, सम्मान तथा अधिकार पाने की इच्छा और संकल्प तो न केवल अंकुरित बल्कि और पल्लवित भी हो रहा है, लेकिन परिवर्तन ही इस चाह एवं चेष्टा के प्रति पुरुष अर्थात भारतीय समाज की प्रतिक्रिया सुस्त और ढीली है। कुछ स्तरों पर तो इस नई सोच को स्वीकार करने की बजाय इसका विरोध भी किया जाता है।

यह सही है कि भारतीय महिलाएं पुरुषों के समान सामाजिक एवं पारिवारिक स्तर प्राप्त करने के लक्ष्य से अभी दूर हैं, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिस मार्ग पर वे चल पड़ी हैं वह उन्हें समानता और मुक्ति की मंजिल की ओर ले जाने वाला है। हम जानते हैं कि किसी उपचार का जब असर होना शुरू हो जाता है तो रोग ठीक होने में फिर समय नहीं लगता। अत: यह मानना निराशाजनक होगा कि स्त्री समानता और मुक्ति अभी दिवास्वप्न मात्र हैं। नई चेतना और संरचना की जो लौ प्रज्वलित हो चुकी है वह देर-सवेर अग्निपुंज के रूप में अवश्य परिवर्तित होगी। इसके लिए एक समूची शताब्दी तक प्रतीक्षा करनी पड़े तो भी चिंता नहीं होनी चाहिए।

महिला अधिकार और महात्मा गांधी

यदि महात्मा गांधी के व्यक्तितत्व को आधुनिक भारतीय समाज का दर्पण कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के शिखर पुरुष होने और राष्ट्रपिता के सम्मान से विभूषित होने पर भी उनमें वे सभी विरोधाभास देखे जा सकते हैं जो भारतीय समाज में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए—वह एक ओर आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं तो उसकी ईकाई परंपरागत भारतीय ग्राम को बनाने की बात करते हैं। सारी दुनिया के साथ कदम मिलाकर चलने की पैरवी करते हैं तो स्वदेशी का भी समर्थन करते हैं। वे धर्मनिरपेक्षता की आधुनिक अवधारणा को मान्यता प्रदान करते हैं तो भारतीय समाज की जातिप्रथा के पक्ष में भी खड़े दिखाई देते हैं। हर विचार के लिए उनके पास अपने तर्क हैं तथा किसी विचार, प्रथा और सिद्धांत के समर्थन अथवा विरोध की उनकी कसौटी है—मानवता का दूरगामी कल्याण। इसीलिए किसी मुद्दे पर वे प्रगतिशील दिखाई देते हैं तो किसी दूसरे विषय पर उनकी छवि परंपरावादी व्यक्ति की है।

धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक मामलों में सामान्यतया महात्मा गांधी को परंपरावादी तथा अनुदार माना जाता है। किंतु जहां तक समाज में महिलाओं की स्थिति का प्रश्न है, गांधीजी ने जो दृष्टि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में न केवल अपने भीतर विकसित की बल्कि उसे व्यावहारिक रूप भी दिया, वह इक्कीसवीं शताब्दी में बहुत-से उदारवादी लोगों को भी क्रांतिकारी लग सकती है। कभी-कभी यह बात बहुत अचरज-भरी लगती है कि अन्य अनेक सामाजिक मामलों में परंपरावादी रीति-नीति का समर्थन करने वाले गांधीजी महिलाओं से जुड़े प्रश्नों पर इतनी अधिक उदारवादी और समतावादी दृष्टि कैसे अपना पाए? परंतु उनका आचरण, लेख, भाषण, पत्र और बातचीत के रिकार्ड इस तथ्य के जीवंत प्रमाण हैं कि वे नारी को पुरुष से किसी भी बात में कम नहीं आंकते थे और अहिंसा त्याग, बलिदान, सेवा, सहिष्णुता जैसे मूल्यों में तो महिलाओं को पुरुषों से अधिक समर्थ और सक्षम मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने कांग्रेस में महिलाओं को नेतृत्व का पूरा अवसर दिया। विभिन्न आंदोलनों में महिलाओं को शरीक करने के

साथ-साथ उनके सामाजिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक उत्थान के कार्यक्रम भी चलाए। इसमें भी उल्लेखनीय बात यह है कि आजकल के अनेक लोगों व संगठनों की तरह गांधीजी ने नारी-मुक्ति का शोर नहीं मचाया, बल्कि इस सामाजिक मुद्दे को व्यावहारिक रूप देते हुए महिलाओं को एकदम सहज ढंग से स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न अंग बनाया।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि महिला अधिकारों के संबंध में आज जो अनुकूल वातावरण हमें दिखाई दे रहा है, उसकी नींव गांधीजी सरीखे महानुभावो ने बहुत पहले रख दी थी। इस संदर्भ में प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता इला भट्ट का वह कथन एकदम सटीक प्रतीत होता है जो उन्होंने 'गांधी ऑन वुमेन' पुस्तक की भूमिका में लिखा है। वह लिखती हैं—'महिलाओं ने उनके नेतृत्व में चले जन आंदोलन में सहज ढंग से भाग लिया। इससे भारतीय महिलाओं के जीवन में हमेशा के लिए मोड़ आ गया। मैं यह कहना चाहूंगी कि यदि गांधीजी यह मोड़ न लाए होते तो मैं वह न होती जो आज मैं हूं। यह बात आज की हर महिला पर लागू होती है।'

गांधीजी के मन में यों तो समूची मानव जाति के प्रति सम्मान का भाव था परंतु महिलाओं के लिए उनके हृदय में अत्यंत गहरी सहानुभूति और आदर की भावना मौजूद थी। यही कारण है कि जिस ब्रिटेन के खिलाफ उन्होंने संघर्ष छेड़ रखा था, उसी देश की महिलाओं के साहस और निडरता की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। जब ब्रिटेन की महिलाओं ने मतदान का अधिकार प्राप्त करने के लिए आंदोलन चलाया तो गांधीजी ने खुलकर उनके संघर्ष का समर्थन किया और 23 फरवरी 1907 के 'इंडियन ओपीनियन' अखबार में लिखा : 'क्या भारतीय पुरुष कायर बने रहेंगे? या अंग्रेज महिलाओं द्वारा दिखाए गए पौरुष का अनुसरण करेंगे और जागेंगे?' स्वतंत्रता आंदोलनों के दौरान उन्होंने अनेक महिलाओं को न केवल स्वतंत्रता संघर्ष में कूदने के लिए प्रेरित किया बल्कि उन्हें नेतृत्व करने का भी अवसर दिया। स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में सरोजिनी नायडू, सुचेता कृपलानी, भीकाजी कामा, सुशीला नैयर, विजयलक्ष्मी पंडित, अरुणा आसफ अली, इंदिरा गांधी तथा कई अन्य महिला नेताओं ने कांग्रेस को सशक्त बनाने में योग दिया। इसके अलावा बहुत-सी महिलाओं ने महात्मा गांधी की प्रेरणा से सामाजिक उत्थान तथा अन्य रचनात्मक कार्यों को अपनाया। यही नहीं, गांधीजी ने कुछ विदेशी महिलाओं को भी अपने व्यवहार व स्नेह से इतना प्रभावित किया कि वे अपना देश छोड़कर न केवल भारत में बस गईं बल्कि भारतीय नाम और जीवन-पद्धति

भी अपनाई और रचनात्मक कार्यों में सक्रिय सहयोग दिया। इनमें सरला बेन तथा मीरा बेन जैसे नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

महिलाओं के प्रति गांधीजी के सकारात्मक दृष्टिकोण का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वे औरतों को आदमियों के मुकाबले अधिक सुदृढ़ और सहृदय मानते थे। वे नारी को अबला कहने के भी सख्त खिलाफ थे। उनकी यह धारणा उनके आचरण, लेखों तथा व्याख्यानों में अनेक बार प्रकट हुई। इस संदर्भ में गांधीजी का यह उद्धरण दृष्टव्य है : 'उन्हें अबला पुकारना महिलाओं की आंतरिक शक्ति को दुत्कारना है। यदि हम इतिहास पर नजर डालें तो हमें उनकी वीरता की कई मिसालें मिलेंगी। यदि महिलाएं देश की गरिमा बढ़ाने का संकल्प कर लें तो कुछ ही महीनों में वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के बल पर देश का रूप बदल सकती हैं।'

महिलाओं की इस आंतरिक शक्ति को वह सत्याग्रह जैसे अहिंसक हथियार के लिए सर्वथा उपयुक्त मानते थे। गांधीजी कहा करते थे कि अहिंसा और सत्याग्रह के मार्ग पर महिलाएं सहज रूप से चलकर बड़ी से बड़ी बाधा का सामना कर सकती हैं। उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि सत्याग्रह ने महिलाओं को घर की चारदीवारी से बाहर निकालकर समाज एवं देश की सेवा करने का मौका दिया है। यह बात उनके इस कथन से स्पष्ट होती हैं : 'मैंने महिला सेवा को रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल किया है क्योंकि सत्याग्रह ने स्वत: महिलाओं को जिस तरह अंधेरे से बाहर निकाल दिया है वैसा इतने कम समय में और किसी भी उपाय से संभव नहीं था।'

जाहिर है, भावात्मक स्तर पर सम्मान और समानता के समर्थन-भर से महिलाओं को समाज में वास्तविक बराबरी नहीं दिलाई जा सकती। इस संबंध में गांधीजी का स्पष्ट मत था कि औरतों का शैक्षिक स्तर सुधारकर उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना बहुत जरूरी है। 1920 के आसपास ही गांधीजी ने महिला समानता के लिए आर्थिक स्वावलंबन की आवश्यकता को पहचान लिया था। उनके खादी आंदोलन का एक उद्देश्य स्वदेशी की भावना को उजागर करना और दूसरा उद्देश्य देश की गरीब जनता, विशेषकर महिलाओं को, जो कि सामाजिक बंधनों के कारण घर के बाहर जाकर काम-धंधे नहीं कर पाती थीं, घर पर चरखा या तकली चलाकर कुछ धन अर्जित करने का साधन उपलब्ध कराना था। खादी उद्योग के माध्यम से गांवों, कस्बों व शहरों की लाखों निर्धन महिलाओं को देशभक्ति की अनुभूति के साथ-साथ रोजगार भी मिला और उनके जीवन में

खुशहाली आई।

महात्मा गांधी चाहते थे कि महिलाएं आर्थिक तथा दैहिक शोषण के साथ-साथ सदियों से चली आ रही मानसिक गुलामी से भी मुक्ति पाने की चेष्टा करें। वे विभिन्न महिला संगठनों की बैठकों, आश्रमों की सभाओं, गोष्ठियों, उत्सवों, त्योहारों तथा अन्य अवसरों पर महिलाओं में आत्मविश्वास जगाने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देते थे। 20 फरवरी 1918 को मुंबई में 'भगिनी समाज' की बैठक को संबोधित करते हुए गांधीजी ने सुझाव दिया कि उन्हें किसी महिला को अपना अध्यक्ष चुनना चाहिए। इसी तरह 8 मई 1919 को मुंबई में ही महिलाओं की एक सभा में गांधीजी ने कहा : 'यह आवश्यक है कि महिलाएं देश में हो रहे विकास में अपना योगदान करें।' 29 जून 1919 को अहमदाबाद में 'वनिता आश्रम' की बैठक को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा : 'मैं 1915 से देश के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं के दौरान कहता आया हूं कि जब तक महिलाएं पुरुषों के बराबर खड़ी नहीं होंगी और अपना अधिकार नहीं जताएंगी, तब तक वे अपनी पहचान नहीं बना पाएंगी।' इस प्रकार बापू जीवन-भर महिलाओं को संगठित, जागृत और प्रेरित करने की दिशा में प्रयासरत रहे।

महात्मा गांधी स्त्रियों के सामाजिक उत्थान के लिए भी बहुत चिंतित थे। महिलाओं के जीवन को प्रभावित करने वाली सामाजिक कुरीतियों के बारे में उनके मन में काफी कड़वाहट थी। वह मानते थे कि बाल-विवाह, परदा प्रथा, सती प्रथा और विधवा-विवाह-निषेध जैसी कुरीतियों के कारण ही महिलाएं उन्नति नहीं कर पातीं और शोषण, अन्याय तथा अत्याचार झेलने को विवश होती हैं। उन्होंने यद्यपि इन कुप्रथाओं के उन्मूलन के लिए कोई संगठित आंदोलन नहीं चलाया, किंतु विभिन्न मंचों पर अपने व्याख्यानों और लेखों के माध्यम से वह इन सामाजिक कुरीतियों पर कठोर प्रहार करते रहे। हिंदू समाज में विधवाओं की दुर्दशा से वह बहुत दुःखी थे। वह कहा करते थे कि छोटी-छोटी बच्चियों पर वैधव्य थोपना एक जघन्य अपराध है जिसके लिए हिंदुओं को हर रोज भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। गांधीजी महिला संगठनों तथा समाज-सुधार में लगे पुरुष कार्यकर्ताओं से कहा करते थे कि वे समाज में विधवा-विवाह, विशेषकर बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में वातावरण बनाने के प्रयास करें। 21 फरवरी 1926 को 'नवजीवन' अखबार में एक विधवा से प्राप्त पत्र की चर्चा करते हुए गांधीजी ने विधवा-विवाह के पक्ष में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा : 'अपने अनुभव से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि कोई बाल-विधवा खड़ी होकर यदि फिर से शादी करना

चाहे तो उसे इसकी पूरी आजादी होनी चाहिए। न केवल उसे पुनर्विवाह के लिए प्रेरित किया जाए बल्कि उसके मां-बाप को चाहिए कि वे उसका सही ढंग से पुनर्विवाह करें।'

गांधीजी ने बाल-विवाह पर भी अपनी आपत्ति अनेक बार प्रकट की। 14 अक्तूबर 1926 को 'यंग इंडिया' समाचार-पत्र में गांधीजी ने बंगाल में 60 साल के एक व्यक्ति द्वारा अपनी बेटी की उम्र की बच्ची से शादी करने की घटना का उल्लेख करते हुए समाज के कर्णधारों से कहा कि वे बाल-वधुओं और बाल-विधवाओं को अमानवीय कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए सामाजिक नियमों को बदलें। इसी तरह वह परदा प्रथा के भी खिलाफ थे और उन्होंने अपना यह विरोध कई अवसरों पर प्रकट किया।

महात्मा गांधी की स्वस्थ सामाजिक सोच में महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष मानने में कहीं कोई अस्पष्टता या संशय दिखाई नहीं देता। वास्तव में वह मन, वचन और कर्म से महिला-पुरुष समानता के प्रबल समर्थक थे। बल्कि कुछ मामलों में वह स्त्री को पुरुष की तुलना में अधिक सशक्त समझते थे। इनमें अहिंसा, सत्याग्रह, ममता, स्नेह, प्रेम, अध्यात्म, धर्म और नैतिकता आदि तत्त्व शामिल हैं। गांधीजी की मान्यता थी कि भावों की उदात्तता में पुरुष वर्ग महिलाओं के सामने नहीं टिक सकता। गांधीजी की इस मान्यता की पुष्टि उनके निम्नलिखित उद्धरणों से होती है :

'यदि शक्ति का अभिप्राय नैतिक शक्ति से है तो महिला निश्चित रूप से पुरुष से कहीं ऊंची है।'

'दिल को छूने में महिलाओं से आगे कौन हो सकता है?'

'यदि अहिंसा हमारा नियम है तो भविष्य महिलाओं के पक्ष में है।'

महिला और पुरुष की समानता के संबंध में गांधीजी की सोच को उनके इस कथन से भी बखूबी समझा जा सकता है : 'भाषाएं घोषित करती हैं कि महिला पुरुष की अर्धांगिनी है। इसी तर्क के अनुसार पुरुष भी महिला का अर्द्धांग है।'

गांधीजी कितनी गहराई तक स्त्री को समानता का हक देने के पक्षधर थे, इसे समझने के लिए हम यहां वह संवाद उद्धृत कर रहे हैं जो उन्होंने अपने सहयोगी और जाने-माने विद्वान काका कालेलकर के कहने पर बच्चों को भाषा का ज्ञान कराने की बालपोथी के लिए लिखा था। वह संवाद इस प्रकार है:

मां : 'बेटे, तुम्हें भी अपनी बहन की तरह घर के कामकाज में हाथ बंटाना

चाहिए।'

लड़का : 'पर वह लड़की है। मैं तो लड़का हूं। लड़के का काम खेलना और पढ़ाई करना है।'

लडकी : 'ऐसा क्यों? मुझे भी तो खेलना और पढ़ना होता है।'

लड़का : 'इससे मैं कब इनकार करता हूं? परंतु मेरी प्यारी बहन, तुम्हें घर का काम भी करना होगा।'

मां : 'लड़का घर का काम क्यों न करे?'

लड़का : 'क्योंकि लड़के को बड़ा होकर धन कमाना होता है। इसलिए उसे अच्छी तरह पढ़ना चाहिए।'

मां : 'बेटे, तुम गलत कह रहे हो। औरत भी परिवार के लिए कमाई करती है। घर के काम में बहुत कुछ सीखने को मिलता है। घर के काम करके तुम कई कौशल सीख जाओगे और आत्मनिर्भर बन सकोगे। घर के काम अच्छी तरह करने के लिए तुम्हें आंखों और हाथों तथा दिमाग का इस्तेमाल करना होगा। अत: इन कामों से शिक्षा मिलती है और हमें चरित्र-निर्माण में मदद मिलती है। पुरुष व महिला दोनों को घर के काम सीखने चाहिए, क्योंकि घर दोनों का है।'

जनसंख्या-वृद्धि : कारण और परिणाम

यूनान, मिस्र, रोमां, सब मिट गए जहां से
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

कविवर इकबाल की ये पंक्तियां अपने देश के अतीत के गौरवगान की आम भारतवासी की प्रवृत्ति की द्योतक हैं। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति हजारों साल से चली आ रही है। हमारे पास वेद, शास्त्र, दर्शन, गीता, रामायण आदि का समृद्ध वाङ्मय है। हमारे यहां तीन ओर समुद्र और विश्व का सबसे ऊंचा पर्वत हिमालय और कलकल करती असंख्य नदियां हैं। इनके अलावा और भी बहुत कुछ है जिस पर गर्व किया जा सकता है।

किंतु ये सब ऐसी विशेषताएं हैं जो हमें प्रकृति अथवा अपने पूर्वजों से विरासत में मिली हैं। जब हम अपनी मौजूदा स्थिति का अवलोकन करते हैं तो गर्व के स्थान पर घोर निराशा की अनुभूति होती है। हम गरीबी से अभी तक मुक्त नहीं हो पाए हैं। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करते हुए भारत में 35 करोड़ से अधिक लोग गरीबी की रेखा से नीचे थे। प्रति व्यक्ति आय के मामले में हम दुनिया के देशों की सूची में बहुत नीचे हैं। सबके लिए शिक्षा का लक्ष्य वर्षों से पूरा नहीं हो पा रहा है। बेरोजगारी की समस्या आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं के बावजूद अधिक विकराल होती जा रही है। पोषाहार, स्वास्थ्य सुविधाओं, खाद्यान्न और आवास जैसी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति अभी तक नहीं हो पाई है। शहरों में करीब एक चौथाई आबादी झुग्गी बस्तियों में रहती हैं। 14 वर्ष तक के बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा सुलभ कराने का संवैधानिक संकल्प अभी अधूरा है। दूसरी ओर, भ्रष्टाचार का दैत्य दिनोदिन और विराट रूप लेता जा रहा है।

प्रकृति के जिस असीम भंडार पर हम गर्व करते आए हैं वह भी बड़ी तेजी से प्रदूषित हो रहा है। इस प्रकार अतीत भले ही गौरवपूर्ण प्रतीत होता हो, वर्तमान निराशापूर्ण और असंतोषजनक है। इस निराशाजनक स्थिति के अनेक कारण हैं, किंतु सबसे बड़ा कारण है—निरंतर बढ़ती जनसंख्या। अचरज नहीं है कि आजादी

के बाद जिस एक क्षेत्र में देश सबसे तेजी से आगे बढ़ा है, वह है आबादी। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हम 34 करोड़ थे जबकि 20वीं सदी के अंत तक हम तीन गुना बढ़कर एक अरब हो गए। यद्यपि आबादी पर नियंत्रण पाने के प्रयास काफी पहले प्रारंभ हो गए थे, किंतु आकड़े स्पष्ट बता रहे हैं कि उनमें मिली सफलता अपर्याप्त है।

2001 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या-वृद्धि की रफ्तार कुछ कम अवश्य हुई है किंतु स्थिति अभी भी चिंताजनक है। जैसा कि पहले कहा गया है, देश की आबादी एक अरब से ऊपर हो गई है। कुल आबादी के मामले में भारत का दुनिया में चीन के बाद दूसरा स्थान है। 1991 से 2000 के दौरान जनसंख्या में वृद्धि की दर 21.34 प्रतिशत रही, जबकि 1981-1990 के दौरान यह 23.06 प्रतिशत थी। हालांकि 1947 के बाद किसी एक दशक में वृद्धि-दर में यह गिरावट सबसे अधिक है, लेकिन जब हम दुनिया के अन्य देशों, विशेषकर विकसित देशों की स्थिति से अपनी तुलना करते हैं तो चिंता बढ़ जाती है। यूरोप, आस्ट्रेलिया, जापान, कनाडा आदि में आबादी की वृद्धि-दर शून्य है, बल्कि कुछ देशों में तो जनसंख्या घटने लगी है। विशेषज्ञों का मानना है कि भारत की जनसंख्या-वृद्धि की मौजूदा गति जारी रही तो 2045 तक यह चीन से भी आगे निकल जाएगा।

अधिक जनसंख्या से जहां अन्न, आवास तथा अन्य बुनियादी आवश्यकताएं बढ़ जाने के कारण एक ओर आम लोगों का जीवन स्तर ऊपर नहीं उठ पाता तो दूसरी ओर पर्यावरण भी बिगड़ता है। इससे कई तरह के रोग पैदा होते हैं और स्वास्थ्य-सेवाओं का लाभ उठाने वालों की संख्या बढ़ जाने से सबको चिकित्सा-सुविधाएं नहीं मिल पातीं। पानी, बिजली, स्वच्छता, शिक्षा, परिवहन आदि नागरिक सुविधाओं पर भी दबाव बढ़ता है। जनसंख्या-वृद्धि का दबाव हमारी भूमि पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए हमारे यहां दुनिया की 16 प्रतिशत आबादी रहती है, जबकि भारत का भूभाग दुनिया का केवल 2.42 प्रतिशत है। बढ़ती आबादी का फल यह हुआ कि 1930-31 में जहां भारत में 90 व्यक्तियों के लिए एक किलोमीटर भूमि उपलब्ध थी, वहीं 2000 तक उसी एक किलोमीटर जमीन पर 275 लोगों को रहना पड़ा। एक और चिंतनीय पहलू यह भी है कि शहरी और ग्रामीण आबादी के अनुपात में जबरदस्त बदलाव आया है। 1901 में देश के गांवों में 89.20 प्रतिशत लोग और शहरों में 10.8 प्रतिशत लोग रहते थे। लेकिन 1991 में शहरी आबादी का प्रतिशत बढ़कर 25.7 और ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत नीचे गिरकर 74.3 हो गया। शहरों तथा कस्बों की संख्या और उनमें रहने वालों

की संख्या तेजी से बढ़ती रही है। मिसाल के तौर पर 1901 में 10 लाख और उससे ज्यादा आबादी वाले कस्बों में कुल शहरी आबादी के 26 प्रतिशत लोग रहते थे, जबकि 1991 में यह प्रतिशत 65 तक पहुंच गया। इसके फलस्वरूप शहरों में रहने की जगह कम पड़ गई जिससे तंग बस्तियां और झुग्गी-झोपड़ी कालोनियां पनप रही हैं। इसके विपरीत, गांवों में बढ़ती आबादी के कारण कृषि-भूमि और वन-भूमि घटती जा रही है और कृषि-जोतों का आकार छोटा होता जा रहा है।

ऐसा नहीं है कि जनसंख्या पर नियंत्रण पाने के उपाय करने की दिशा में भारत ने कोताही की है। सच तो यह है कि भारत विश्व का पहला देश है जिसने आजादी के कुछ ही वर्ष बाद 1951 में सरकारी स्तर पर जनसंख्या-नियंत्रण कार्यक्रम का सूत्रपात कर दिया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य बड़े परिवार के खतरों से अनभिज्ञ देशवासियों के द्वार तक परिवार नियोजन के उपाय उपलब्ध कराना था। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये इस कार्यक्रम को सफल बनाने पर पर्याप्त धन व्यय किया गया, किंतु पहले 15-20 वर्षों तक इसमें विशेष सफलता नहीं मिली। इसके बाद रणनीति में बदलाव लाया गया और गैर-सरकारी संस्थाओं का सहयोग लेकर इसे जन-आंदोलन बनाने की कोशिश की गई। इससे इस कार्यक्रम की विश्वसनीयता बढ़ी। साथ ही साक्षरता दर में निरंतर बढ़ोतरी के कारण अधिकाधिक लोग छोटे परिवार के फायदों को समझने लगे। किंतु इसके बावजूद जनसंख्या-वृद्धि दर में कमी नहीं आई। समूची 20वीं शताब्दी में 1981 की जनगणना में पहली बार वृद्धि दर में मामूली गिरावट आई। उसके बाद 1991 और 2001 की जनगणना में थोड़ी और गिरावट दर्ज की गई।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि देश के कुछ खास राज्यों का जनसंख्या बढ़ाने में विशेष योगदान है। ये हैं—बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और उड़ीसा। इन पांचों राज्यों में आबादी की अधिक वृद्धि के कारण कुछ राज्यों, विशेषकर दक्षिणी राज्यों—केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश की उपलब्धियां विफल हो जाती हैं। उदाहरण के लिए 1986 में देश की 44 प्रतिशत आबादी इन्हीं पांच राज्यों में रह रही थी। 1991 से 2000 तक के दशक में जनसंख्या-वृद्धि की सबसे ऊंची दर 28.43 प्रतिशत बिहार में रही, जबकि केरल में यह केवल 9.42 प्रतिशत थी। इसलिए वर्ष 2000 में स्वीकार की गई राष्ट्रीय जनसंख्या नीति में इन पांचों राज्यों में जनसंख्या पर काबू पाने के प्रयास तेज करने का संकल्प व्यक्त किया गया। इस नीति में इन राज्यों समेत 15 राज्यों के 135 जिलों को जनसंख्या की असामान्य वृद्धि की दृष्टि से समस्याग्रस्त जिले घोषित

करके वहां विशेष अभियान चलाने का निश्चय किया गया है। इन जिलों में स्वास्थ्य-सुविधाएं बेहतर बनाने पर विशेष बल देने का निर्णय किया गया ताकि बाल-मृत्यु दर में कमी लाई जा सके। यह दिलचस्प तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिन राज्यों में बाल-मृत्यु दर घटी है वहां जनसंख्या-वृद्धि-दर भी कम हुई है। इसका कारण यह है कि बच्चों की मृत्यु की आशंका कम होने पर लोग स्वतः ही कम बच्चे पैदा करने को तैयार हो जाते हैं। बाल-मृत्यु की दर ऊंची होने पर लोगों में बच्चों के जीवित बचने का भरोसा कम होता है, जिससे वे अधिक बच्चे पैदा करते हैं। इसलिए स्वास्थ्य सुविधाओं में सुधार पर अधिक बल दिया जा रहा है।

अशिक्षा और अंधविश्वास भी जनसंख्या-वृद्धि के मुख्य कारण हैं। गांवों में यह स्थिति अधिक चिंताजनक है। लड़कियों और महिलाओं में साक्षरता का स्तर और भी कम है, जिससे वे अपना नफा-नुकसान तक नहीं समझ पातीं। गांवों में अधिकतर लोग आज भी बच्चों को भगवान का वरदान मानते हैं और उनके जन्म में किसी तरह की रुकावट को पाप समझते हैं। यद्यपि लगातार प्रचार तथा शिक्षा के प्रसार से यह धारणा अब कुछ कमजोर हो रही है, किंतु लगता है कि इसके पूरी तरह समाप्त होने में अभी समय लगेगा।

लड़का पाने की चाह भी अधिक संतान होने का एक प्रमुख कारण है। हमारे संस्कार, धार्मिक मान्यताएं तथा सामाजिक रीति-रिवाज लड़के को लड़की से बेहतर मानने को प्रेरित करते हैं, जिससे लोग लड़के की चाह में अनावश्यक रूप से अधिक बच्चे पैदा कर लेते हैं। इस असंतुलित सोच के कारण जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ लड़की को परिवार में कम महत्त्व मिलता है और उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा तथा देखभाल की अनदेखी होती है। लालन-पालन में अंतर के कारण लड़कियां दुर्बल रह जाती हैं और बड़ी होकर वे कमजोर शिशुओं को जन्म देती हैं जो बहुत जल्दी काल-कवलित हो जाते हैं, जिससे बाल-मृत्यु दर बढ़ती है। जैसा कि पहले बताया गया है, बाल-मृत्यु की ऊंची दर अधिक बच्चे पैदा होने का बहुत बड़ा कारण है।

औरत को कम महत्त्व दिए जाने का एक दुष्परिणाम यह होता है कि संतान पैदा करने में आमतौर पर औरत की इच्छा, सेहत और शारीरिक क्षमता की परवाह नहीं की जाती। यह तथ्य जनगणना के आंकड़ों में भी साफ झलकता है। पुरुष की तुलना में स्त्रियों की संख्या का औसत हमारे देश में अन्य देशों के मुकाबले काफी कम है। 2001 की जनगणना में 1000 पुरुषों के पीछे महिलाओं की संख्या

933 थी, जो इससे पिछली जनगणना से थोड़ी-सी अधिक है। यह वास्तव में चिंता की बात है कि शिक्षा और जागरूकता के प्रसार के बावजूद 1901 से 2001 तक के 100 वर्षों के दौरान महिलाओं के अनुपात में 1981 की जनगणना में मामूली वृद्धि को छोड़कर लगातार कमी आई है। 1901 में यह अनुपात 1000 के पीछे 972 था जो 1991 में 927 रह गया। 2001 में इसमें वृद्धि तो हुई फिर भी यह 1981 के अनुपात 934 से कम यानी 933 था। इससे भी अधिक शोचनीय पक्ष यह है कि पंजाब, हरियाणा और चंडीगढ़ जैसे विकसित राज्यों में स्त्री-पुरुष अनुपात में भारी गिरावट दर्ज की गई है। 2001 की जनगणना में चंडीगढ़, हरियाणा तथा पंजाब में 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या क्रमश: 773, 861 और 874 थी। इसका कारण संभवत: भ्रूण के लिंग की पहचान की आधुनिक तकनीक का बढ़ता हुआ प्रयोग है, जिससे कन्या भ्रूण नष्ट कर दिया जाता है। केरल और पांडिचेरी ही दो ऐसे प्रदेश हैं, जहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है।

लड़की और लड़के में यह भेद ही साक्षरता के मामले में भारी विषमता के लिए जिम्मेदार है। हालांकि 1990 के दशक में महिलाओं की साक्षरता की वृद्धि-दर उत्साहजनक रही, फिर भी महिलाओं का साक्षरता-प्रतिशत पुरुषों से काफी कम है। 2001 की जनगणना में कुल साक्षरता-प्रतिशत 65.38 आंका गया, जिसमें पुरुषों की साक्षरता का प्रतिशत 75.85 और महिलाओं का 54.16 था। जाहिर है, औरतों की शिक्षा की दिशा में अभी काफी कुछ किए जाने की आवश्यकता है। महिलाओं को शिक्षित करना जनसंख्या पर काबू पाने का सबसे कारगर उपाय है।

जनसंख्या पर अंकुश लगाने के लिए जहां शिक्षा और जनजागरण की जरूरत है, वहीं स्वास्थ्य, रोजगार तथा गरीबी दूर करने के क्षेत्र में भी ठोस उपाय करने होंगे। गरीबी जनसंख्या-वृद्धि का बहुत बड़ा कारण है। इसलिए राष्ट्रीय जनसंख्या नीति में दो बच्चों के सिद्धांत को लोकप्रिय बनाने के साथ-साथ 14 वर्ष की आयु में सभी बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा उपलब्ध कराने, जन्म, मृत्यु तथा विवाह के पंजीकरण को सुनिश्चित करने तथा पानी, पोषाहार, बच्चों का टीकाकरण जैसे उपाय शामिल करके परिवार कल्याण कार्यक्रम को व्यापक बनाया गया है। इस प्रकार लोगों के भौतिक और आर्थिक विकास को जनसंख्या नीति का अभिन्न अंग बना दिया गया है। इस नीति का अनुसरण करके जन्म-दर को 3.3 से घटाकर 2010 तक 2.1 करने तथा 2045 तक देश की जनसंख्या को स्थिर बनाने का लक्ष्य रखा गया। नीति में यह स्पष्ट कहा गया कि यह लक्ष्य बिना जोर-जबरदस्ती

किए प्राप्त किया जाएगा। कहना न होगा कि इतना बड़ा लक्ष्य केवल सरकारी प्रयासों से प्राप्त करना असंभव है, इसलिए उसमें पंचायती राज संस्थाओं और स्वयंसेवी संगठनों का भरपूर सहयोग लिया जाएगा। पंचायतों को सहभागी बनाए बिना गांवों में परिवार कल्याण को कभी सफल नहीं बनाया जा सकता।

आबादी कम करने के मामले में केरल आदर्श राज्य है। वहां जनसंख्या-वृद्धि-दर सबसे कम है तो बाल मृत्यु-दर भी सबसे कम है। स्त्री-पुरुष अनुपात भी स्त्रियों के पक्ष में है, लड़कियों की औसत विवाह आयु भी अधिक है और साक्षरता-दर में तो कई वर्षों से केरल सबसे आगे चल रहा है। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश राजस्थान, उड़ीसा तथा बिहार जैसे समस्याग्रस्त राज्यों को भी केरल की राह पर चलने का प्रयास करना चाहिए। जब तक इन राज्यों में जनसंख्या घटाने की दिशा में सफलता प्राप्त नहीं की जाती तब तक राष्ट्रीय जनसंख्या नीति में निर्धारित लक्ष्य पूरा कर पाना कठिन है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे देश में जनसंख्या-वृद्धि 21वीं सदी की सबसे बड़ी चुनौती है, क्योंकि यह हमारी आर्थिक प्रगति के लाभों को विफल कर रही है। पिछले दशक में भारतीय जनसंख्या में 18 करोड़ 10 लाख की बढ़ोतरी हुई जो पूरे ब्राजील की आबादी के बराबर है। इतने लोगों के लिए अनाज, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य-सुविधाओं, स्कूलों, सड़कों, बसों, रेलगाड़ियों आदि की अतिरिक्त आवश्यकता होगी। इतना बड़ा बोझ भारत जैसा निर्धन देश कहां तक उठा पाएगा? अतः राष्ट्रीय जनसंख्या नीति में बताए गए उपायों पर अमल करके तथा जनसंख्या-नियंत्रण के अभियान में आम लोगों को शामिल करके इस चुनौती से निपटना होगा। सबसे बड़ी आवश्यकता लड़के-लड़की में भेद की सोच को दूर करके आम लोगों में यह धारणा पैदा करने की है कि छोटा परिवार उनके अपने तथा देश के हित में है। इसके लिए सभी जिम्मेदार लोगों को आगे आना होगा। सच तो यह है कि देश को जनसंख्या-वृद्धि के संकट से बचाना प्रत्येक भारतवासी का राष्ट्रीय कर्तव्य है।

मानव अस्तित्व और पर्यावरण

यों तो मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है किंतु व्यावहारिक स्तर पर वह अपने को सृष्टि का केंद्रबिंदु समझते हुए प्रकृति को एक पृथक इकाई के रूप में देखता है। प्रकृति से अलगाव की इस प्रवृत्ति ने संभवतः उसी समय जन्म लिया था, जब मनुष्य ने अपने जीवन को सुविधामय बनाने के सामूहिक प्रयास प्रारंभ किए। वैसे यह पृथकता बहुत सूक्ष्म रही है और प्रकृति के साथ मनुष्य का समन्वय बना रहा है। किंतु आज स्थिति बदल चुकी है। अब मनुष्य प्रकृति के आमने-सामने है और अपनी सुख-समृद्धि के लिए प्रकृति का शोषण करने पर उतारू है। जो प्रकृति सदैव दिल खोलकर अपनी संपदा मनुष्य तथा अन्य जीवों पर लुटाती रही है, उससे सब कुछ छीन लेने के दुस्साहस में मनुष्य ने अपने-आपको नए संकट में डाल लिया है। यह संकट है प्रदूषण यानी पर्यावरण में आ रही निरंतर गिरावट।

जल, वायु और वनस्पति जैसी मानव अस्तित्व की आधारभूत आवश्यकताएं आज दूषित और विकृत हो चुकी हैं। मनुष्य के अस्तित्व पर ही खतरे के बादल मंडरा रहे हैं। जाहिर है अपनी इस दुर्दशा के लिए मनुष्य स्वयं दोषी है। पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम इस सीमा तक बढ़ चुके हैं कि बाढ़, महामारी, अकाल जैसी जिन स्थितियों को ईश्वर का प्रकोप कहा जाता था, वे भी अब मनुष्य की अपनी करनी का फल दिखाई देने लगी हैं। पर्यावरण का विषय कितना महत्त्वपूर्ण बन चुका है, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस बारे में विश्वस्तर के शिखर सम्मेलन आयोजित किए जा रहे हैं, जिनमें इस व्यापक संकट से निपटने के लिए सामूहिक उपायों पर विचार किया जाता है।

वातावरण को दूषित करने वाले तत्त्वों का अस्तित्व यों तो हमेशा से रहा है, किंतु आधुनिक जीवन-शैली और सुख-सुविधा का सामान जुटाने के लिए उद्योगों की स्थापना का दौर शुरू होने के बाद इन तत्त्वों की मात्रा में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। विडंबना यह है कि आधुनिक जीवन-शैली का प्रादुर्भाव तो पश्चिम के विकसित देशों में हुआ, किंतु पर्यावरण के दुष्फल अधिकांशतः विकासशील देशों को भुगतने पड़ रहे हैं। भारत में भी आजादी के बाद से

औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण पर्यावरण की समस्या दिनोदिन गंभीर रूप लेती जा रही है। हालात यहां तक पहुंच गए हैं कि जिस गंगा को पतितपावनी और सबको पवित्र करने वाली माना जाता है, वह स्वयं दूषित है और कई स्थानों पर तो उसमें स्नान करना और उसका पानी पीना स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक है। यही बात अन्य नदियों के बारे में भी कही जा सकती है, जिनके किनारे बसे शहरों और कस्बों का मल और औद्योगिक कचरा एवं रासायनिक तत्त्व नदियों में डाले जाते हैं। इससे उनका पानी दूषित होता जा रहा है। केंद्रीय जल-प्रदूषण निवारण बोर्ड द्वारा कुछ वर्ष पूर्व किए गए सर्वेक्षण से पता चला कि देश के 13 नगर जल-प्रदूषण से विशेष रूप से प्रभावित हैं। ये सभी औद्योगिक नगर हैं और इन स्थानों पर नदियों का पानी पीने के लिए तो दूर, सिंचाई के लिए भी अनुपयुक्त बताया गया।

वायु का प्रदूषण भी समान रूप से हानिकारक और चिंताजनक है। कारखानों और मोटर वाहनों से निकलने वाले धुएं में मौजूद विषैली गैसों से तरह-तरह के रोग फैल रहे हैं। दिल्ली को विश्व का तीसरा सबसे अधिक प्रदूषित नगर घोषित किया जा चुका है। पिछले कई वर्षों में उद्योगों के साथ-साथ मोटर वाहनों की संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हो रही है। इससे वायु-प्रदूषण तथा ध्वनि-प्रदूषण दोनों ने विकराल रूप धारण कर लिया है।

दिल्ली में 20वीं सदी के अंत तक मोटर वाहनों की संख्या लगभग 35 लाख हो चुकी थी। कुछ पर्यावरणविदों की चिंता तथा न्यायपालिका के हस्तक्षेप से राजधानी में वाहनों तथा उद्योगों से निकलने वाले धुएं से फैलने वाले प्रदूषण पर काबू पाने में कुछ सफलता मिली है, किंतु अब भी दिल्ली में वायु-प्रदूषण खतरनाक बना हुआ है। ऐसी ही स्थिति कई अन्य औद्योगिक नगरों की है।

औद्योगिक धुएं से वायुमंडल में फैलने वाली कार्बन डाइआक्साइड तथा अन्य जहरीली गैसों के असर को कम करने के लिए हमें और अधिक वन लगाने की आवश्यकता है, जबकि हमारे यहां वन-क्षेत्र निरंतर घटता जा रहा है। नए उद्योगों तथा नई बस्तियां बसाने के उद्देश्य से अतिरिक्त जमीन प्राप्त करने के लिए देश-भर में जंगल साफ करने का सिलसिला जारी है। जिन वन-क्षेत्रों को सरकार ने आरक्षित घोषित करके पेड़ काटने पर पाबंदी लगा रखी है वहां भी चोरी-छिपे पेड़ काटने की खबरें मिलती रहती हैं। आधुनिक जीवन-शैली के लिए सुख-सुविधाओं की वस्तुएं बनाने और भवन-निर्माण के बढ़ते हुए उद्योग के वास्ते इमारती लकड़ी की जरूरतें वन काटकर ही पूरी की जाती हैं। कहते हैं, हमारे देश

का प्रहरी हिमालय भी नंगा होता जा रहा है। इसके अलावा जमीन की कीमतें बढ़ जाने तथा भूमि-सुधार कानून लागू हो जाने के बाद गांवों में भूमि और चरागाहों पर अवैध कब्जे होने लगे, जिसके कारण सामान्य गांववासियों को ईंधन और चारे के लिए जंगलों का सहारा लेना पड़ा। इससे भी वन-भूमि घटने लगी। यही नहीं, बढ़ती हुई आबादी के लिए अनाज, दालें, सब्जियां, फल आदि का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता है जो वनों को काटकर ही पूरी की जाती है।

अंतरराष्ट्रीय मानदंडों के अनुसार कुल भू-भाग के कम-से-कम एक तिहाई क्षेत्र में वन होने चाहिए। भारत में 1952 में वन नीति-तैयार की गई थी और 1980 में वन-संरक्षण अधिनियम बनाकर बहुत बड़े वन-क्षेत्र को आरक्षित घोषित कर दिया गया था ताकि वनों की कटाई पर रोक लगाई जा सके। इसके अलावा वन-महोत्सव, सामाजिक वानिकी कार्यक्रम तथा 'एक बच्चा एक पेड़' जैसे लोकप्रिय कार्यक्रम चलाकर पर्यावरण के बचाव के पर्याप्त उपाय किए गए। परंतु पेड़ों की कटाई पर पूरी तरह रोक न लग पाने तथा वायु-प्रदूषण को बढ़ाने वाले कारणों के बढ़ते जाने से प्रदूषण में निरंतर वृद्धि होती जा रही है।

मिस्र की राजधानी काहिरा में हुए जनसंख्या सम्मेलन में पर्यावरण की समस्या को एक नया आयाम मिला। इसमें यह बात उभरकर आई कि पर्यावरण और जनसंख्या का एक-दूसरे से अभिन्न संबंध है और इनमें से किसी भी एक मुद्दे पर दूसरे से अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह बिलकुल सही है। यदि हम अपने देश की स्थिति को ही लें तो साफ नजर आता है कि शहरों में बढ़ती हुई आबादी के फलस्वरूप तंग बस्तियों का जाल बिछता जा रहा है, जहां लाखों लोगों को न तो स्वच्छ वायु उपलब्ध है और न ही स्वच्छता कायम रखी जा सकती है। जल-निकासी और मल-व्ययन की व्यवस्था नगरपालिकाओं के बस के बाहर की बात होती जा रही है। पेय जल उपलब्ध कराना ही अपने-आपमें समस्या है। इसके अलावा जैसा कि पहले कहा गया है, अधिक लोगों का पेट पालने के लिए अनाज का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है, जिसके लिए वनों की सफाई करके कृषि-भूमि विकसित की जाती है। उत्पादकता बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं के इस्तेमाल से भी पर्यावरण को खतरा पैदा हो रहा है। ज्यादा लोगों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए ज्यादा वस्तुओं का निर्माण करना होगा, जिसके लिए नित नए उद्योग लगाने से वायु और जल प्रदूषण को बढ़ावा मिलता है। दरअसल जनसंख्या को नियंत्रित करना पर्यावरण-

संरक्षण की अनिवार्य शर्त है। काहिरा सम्मेलन में यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रदूषण की समस्या की कुंजी पर्यावरण- विशेषज्ञों के नहीं, बल्कि परिवार नियोजन कार्यक्रम चलाने वालों के हाथ में है।

पेड़ों की अंधाधुंध कटाई, उद्योगों तथा शहरों के फैलाव, बढ़ती हुई जनसंख्या और रासायनिक एवं अन्य विषैले तत्त्वों के वायुमंडल में प्रवेश का एक भयंकर परिणाम यह हो रहा है कि पृथ्वी को सूर्य के हानिकारक ताप से बचाने वाली ओजोन की परत क्षीण होती जा रही है। पृथ्वी का तापमान लगातार बढ़ रहा है। इसके कारण पृथ्वी पर गरमी बढ़ने यानी ग्लोबल वार्मिंग का संकट उभरता जा रहा है। यह स्थिति समूचे विश्व और विशेषकर भारत जैसे समशीतोष्ण जलवायु वाले देशों के लिए बहुत खतरनाक होगी। इससे समुद्रों की सतह बढ़ने की आशंका व्यक्त की जा रही है, जिससे समुद्र में बसे कई द्वीपों के डूबने का खतरा है। इसी कारण वर्षा और मौसमों का चक्र कुछ-कुछ बदलता जा रहा है। कहीं अतिवृष्टि होती है तो कहीं सालोंसाल सूखा पड़ता है। पेड़ों की कटाई से बाढ़ का प्रकोप बढ़ जाता है और बाढ़ से पृथ्वी की उर्वरा मिट्टी का कटाव होता है। इस तरह हम अपने तथाकथित विकास की ओर आगे बढ़ने की धुन में विनाश की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

वृक्षारोपण जैसे तात्कालिक उपायों के महत्त्व से तो इनकार नहीं किया जा सकता, किंतु अब समस्या इतनी विकराल और खतरनाक दौर में पहुंच चुकी है कि पूरी विकास-पद्धति पर ही नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है। यह सच है कि विकास के मौजूदा माडल को न तो रातोंरात बदला जा सकता है और न ही उसे एकदम रोका जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि चाहे शिक्षा हो या स्वास्थ्य, कृषि हो या उद्योग, हमें जीवन की हर गतिविधि के संबंध में योजना बनाते समय पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

यह सुखद स्थिति है कि अब नई पीढ़ी पर्यावरण के बारे में पूरी तरह जागरूक है और अनेक स्वयंसेवी संगठन भी इस दिशा में सक्रिय हैं। अनेक राज्यों में स्कूली शिक्षा में भी पर्यावरण-संरक्षण को शामिल किया गया है, किंतु कुछ निहित स्वार्थ अपने तात्कालिक लाभ के लिए संपूर्ण मानवता के स्वास्थ्य एवं अस्तित्व से खिलवाड़ करने से बाज नहीं आते।

इस सिलसिले में उच्चतम न्यायालय के कुछ फैसले नई आशा जगाते हैं। उच्चतम न्यायालय ने विश्वप्रसिद्ध पर्यटन-स्थल ताजमहल पर वायुप्रदूषण के दुष्प्रभाव के संबंध में एक याचिका पर अपना निर्णय सुनाते हुए आगरा और उसके

आसपास के क्षेत्रों से औद्योगिक इकाइयां तत्काल हटाने और ताजमहल के चारों ओर दूर-दूर तक वृक्षारोपण का व्यापक कार्यक्रम चलाने के लिए निर्देश दिए। उसके बाद केंद्रीय पेट्रोलियम मंत्रालय ने दस सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की जिसमें ऐसे उपाय शामिल किए गए हैं, जिनसे इस क्षेत्र में वायु-प्रदूषण पर अंकुश लगे और लोगों में अपनी इस सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक धरोहर को नष्ट होने से बचाने की जागरूकता पैदा हो। मथुरा रिफाइनरी को भी एहतियाती तकनीकें अपनाकर ताजमहल को दुष्प्रभाव से बचाने की सलाह दी गई है।

दिल्ली में भी पर्यावरण की रक्षा के बारे में कुछ उत्साहवर्धक अदालती फैसले सुनाए गए हैं। उच्चतम न्यायालय ने प्रदूषण फैलाने वाली तथा रासायनिक किस्म की औद्योगिक इकाइयों को बंद करने या उन्हें पड़ोसी राज्यों में स्थानांतरित करने के निर्देश दिए। न्यायालय ने हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों की सरकारों को भी आदेश दिया है कि वे इन उद्योगों के लिए जमीन तथा अन्य बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था करें। इसी तरह मोटर वाहनों में पेट्रोल और डीजल के स्थान पर सीएनजी इस्तेमाल करने और पुराने वाहनों को दिल्ली की सड़कों से हटा लेने के अदालत के आदेशों से दिल्ली का वातावरण सुधारने में सहायता मिली है।

सच तो यह है कि पर्यावरण-संरक्षण अब केवल सरकार का सिरदर्द नहीं रहा। निजीकरण के दौर में यह और भी अधिक जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति, स्वयंसेवी संगठन, औद्योगिक एवं व्यापारिक कंपनियां, सरकारी विभाग, पंचायतों एवं नगरपालिकाओं जैसी स्थानीय स्वशासन एजेंसियां आदि सभी इसमें हाथ बंटाएं। जो लोग परोपकार और पुण्यकर्म के रूप में धार्मिक कृत्यों के लिए दान देते हैं, उन्हें वृक्षारोपण को भी इस पुण्य का साधन बनाना चाहिए। अब समझ लेना चाहिए कि पर्यावरण भी हवा, पानी और भोजन की तरह हमारे अस्तित्व से जुड़ा है।

एक नई उभरती चुनौती : वृद्धावस्था

भारत में बड़ों द्वारा छोटों को 'आयुष्मान् भव' यानी लंबी उम्र पाने का आशीर्वाद देने की परंपरा रही है। वेदों में भी 'जीवेम शरदः शतम्' के रूप में मनुष्य के 100 वर्ष तक जीवित रहने की कल्याणमयी कामना की गई है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 60 वर्ष से अधिक उम्र के व्यक्तियों की संख्या 5.67 करोड़ थी जो देश की कुल आबादी का 6.76 प्रतिशत थी, जबकि तीस वर्ष पूर्व 1961 में वृद्धजनों की संख्या 2.56 करोड़ और प्रतिशत 5.82 था। कुल आबादी में वृद्धजनों का प्रतिशत 2010 तक 8.94 हो जाने की संभावना है। औसत आयु में वृद्धि को देखते हुए ही केंद्र सरकार तथा कुछ राज्य सरकारों ने अपने कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति की आयु 58 से बढ़ाकर 60 वर्ष कर दी है।

60 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों की संख्या बढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वृद्धजनों के अनुपात में यह वृद्धि 1961 के बाद निरंतर जारी है। 1961 से 1971 के दौरान कुल आबादी में वृद्धजनों के अनुपात की वृद्धि-दर 27.91 प्रतिशत थी जो 1971 से 81 के दौरान 32.01 प्रतिशत तथा 1981 से 1991 के दौरान 31.31 प्रतिशत रही। इन आंकड़ों से यह तथ्य भी सामने आता है कि 1961 से 1991 तक के 30 वर्षों में भारत में 60 साल से बड़े लोगों की कुल संख्या 2 करोड़ 56 लाख से बढ़कर 5 करोड़ 67 लाख यानी दुगनी से भी ज्यादा हो गई।

हर व्यक्ति लंबे समय तक जीवित रहने की कामना करता है। अतः औसत आयु में वृद्धि आनंद और संतोष का विषय होनी चाहिए। किंतु वृद्धावस्था के साथ जुड़े असंख्य पहलुओं पर ध्यान दें तो वृद्धजनों की बढ़ती हुई संख्या न केवल भारत में, बल्कि समूचे विश्व में नई शताब्दी की एक बहुत बड़ी चुनौती बनने वाली है। भारत जैसे विकासशील देश में तो यह समस्या विशेष रूप से चिंताजनक है, क्योंकि गरीबी, निरक्षरता और कुछ सामाजिक जटिलताओं के चलते वृद्धजनों की बढ़ती हुई संख्या के लिए बुनियादी आवश्यकताएं तथा अन्य सुख-सुविधाएं जुटाना अत्यंत कठिन है। यह सही है कि संयुक्त परिवार प्रथा तथा वृद्धों के

सम्मान के हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के कारण वृद्धजनों की देखभाल की स्थिति पश्चिमी जगत से कुछ बेहतर रहने की आशा की जा सकती है, किंतु वृद्धावस्था अपने-आपमें इतनी समस्याओं व विकारों से ग्रस्त होती है कि वृद्ध लोगों की बढ़ती हुई संख्या से निपटने के लिए राष्ट्रीय प्रयासों की आवश्यकता है।

उम्र बढ़ने के साथ मनुष्य की शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है। आंखों से कम दिखाई देना, स्मरण-शक्ति घटना, जोड़ों में दर्द, श्वास-संबंधी बीमारियां, पाचन-क्षमता कम हो जाना जैसी शिकायतें आम हैं। इसके अलावा रक्तचाप, मधुमेह, हृदयरोग जैसी गंभीर तथा घातक बीमारियों का प्रभाव व प्रकोप भी वृद्धावस्था में बढ़ जाता है। यही नहीं, इंद्रियों की दुर्बलता के कारण गिरने, फिसलने आदि से चोट लगने या शारीरिक विकलांगता का शिकार होने की आशंका भी बढ़ जाती है। इन सब अक्षमताओं के फलस्वरूप वृद्ध व्यक्ति के आत्मविश्वास में कमी आ जाती है और दूसरों पर निर्भरता बढ़ जाने से उनमें हीन भावना पनपने लगती है।

निर्धन और कम आय वाले लोगों में यह प्रक्रिया अधिक तेज होती है क्योंकि शारीरिक विकारों के इलाज के लिए जहां धन की कमी आड़े आती है वहीं निरक्षरता तथा कुछ अंधविश्वासों के कारण वे दुर्बलताओं का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर पाते। कई रोगों के कारण वृद्धजनों को बिस्तर पर लेटे रहना पड़ता है, जिससे उनकी निष्क्रियता बढ़ जाती है। इससे उनकी पाचन-शक्ति और हाथ-पांव चला पाने तथा घूमने-फिरने की क्षमता घट जाती है। कई बार पीठ पर घाव हो जाते हैं और सफाई ठीक से न कर पाने की वजह से चर्मरोग हो जाते हैं। वृद्ध महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय होती है, क्योंकि उनके पास घूमने-फिरने, इलाज करा सकने या एहतियाती उपाय अपनाने के अवसर पुरुषों की तुलना में कम रहते हैं।

जाहिर है, दुर्बलता की यह प्रक्रिया स्वाभाविक है और कमोबेश सभी लोगों को किसी न किसी रूप में इससे गुजरना पड़ता है। इसे रोकना या उलटना तो संभव ही नहीं है, किंतु वृद्धजनों की देखभाल करने वालों, परिवार के लोगों, समाज तथा सरकार को चाहिए वे बुजुर्गों के जीवन को न्यूनतम कष्टमय बनाने के लिए प्रयास करें। उदाहरण के लिए— घर वालों को अपने मां-बाप या दादा-दादी के साथ रोजमर्रा का बरताव करते हुए उनकी दुर्बलताओं और अपंगताओं को ध्यान में रखना चाहिए। अपना व्यवहार संयत रखने के साथ-साथ उन्हें उनकी

त्रुटियों का अहसास कराने की बजाय उन अपंगताओं के साथ जीने का भाव पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए। इसी तरह उनकी समय-समय पर स्वास्थ्य संबंधी जांच कराते रहना चाहिए। घर के लोग, विशेषकर महिलाएं यह ध्यान रखें कि वृद्ध पुरुष या महिलाएं समय पर दवाई लें, व्यायाम और सैर करने जाएं और अपने शरीर की साफ-सफाई रखें। वास्तव में जीवन के प्रति निराशा और कमजोर याददाश्त के चलते बड़े-बूढ़े अकसर इन बुनियादी कामों की उपेक्षा करने लगते हैं, अत: देखभाल करने वालों को चाहिए कि उन्हें इन सब बातों की याद दिलाते रहें।

स्वयंसेवी संस्थाओं और सरकार को वृद्धजनों के लिए मुफ्त चिकित्सा सुविधाओं तथा स्वास्थ्य-संबंधी जांच की व्यवस्था की ओर ध्यान देना चाहिए। वैसे अब बहुत-सी स्वयंसेवी संस्थाएं कई स्थानों पर इस तरह की परियोजनाएं चला रही हैं जिनके अच्छे परिणाम सामने आए हैं। वृद्धजनों के लिए नेत्र-शिविर तथा अन्य रोगों की सामान्य जांच के शिविर लगाए जा सकते हैं। वृद्धगृहों में भी चिकित्सा-सुविधाएं जुटाई जा सकती हैं। अस्पतालों के ओ.पी.डी. विभागों तथा वार्डों में वृद्धजनों के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि प्राथमिकता के आधार पर उनकी जांच, देखभाल और उपचार किया जा सके। चलते-फिरते चिकित्सालय इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

कुपोषण के कारण भी अनेक बड़े-बूढ़े दुर्बलता के शिकार हो जाते हैं। एक तो स्वाद, गंध आदि की चेतना कम हो जाने और पाचनक्रिया शिथिल पड़ जाने के कारण वृद्धजन अधिक भोजन नहीं कर पाते और दूसरे, परिवार में बुजुर्गों को बोझ मान लिया जाने के कारण उन्हें कम तथा घटिया आहार दिया जाता है। इससे उनकी शारीरिक दुर्बलता और बढ़ जाती है। अत: बड़े-बूढ़ों को उचित और पर्याप्त आहार मिले, इसका भी ध्यान रखना जरूरी है।

अकेलेपन का भाव वृद्धावस्था का सबसे बड़ा अभिशाप है। याददाश्त कमजोर हो जाने तथा इंद्रियों के दुर्बल पड़ जाने से वृद्ध व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। साथ ही शारीरिक बीमारियों तथा विकारों के कारण भी तनाव और निराशा घर करने लगती है। इससे परिजन तथा दूसरे मिलने-जुलने वाले लोग उनसे कतराने लगते हैं। बड़े-बूढ़ों के पास कोई खास काम नहीं होता। उनके पास खाली समय बहुत रहता है, जबकि अन्य लोग अपने काम-धंधों में व्यस्त रहते हैं। उनके पास बड़े-बूढ़ों के पास बैठने या उनसे बातचीत करने की न तो फुरसत होती है और न ही रुचि। जिन वृद्धजनों के पति या पत्नी की मृत्यु हो चुकी

होती है उनमें अकेलेपन का भाव अधिक गहरा होता है। ऐसे लोग अपना सुख-दु:ख किसी के साथ बांट नहीं सकते और न ही अंतरंगता महसूस कर सकते हैं। इस खालीपन के कोढ़ में खाज का काम करती है शारीरिक रोगों से पैदा हुई पीड़ा तथा सगे-संबंधियों की उपेक्षा। उच्च पदों से रिटायर लोगों में हताशा (डिप्रेशन) घर कर लेती है। आत्मसम्मान पर चोट, अकेलेपन, उपेक्षा और हताशा के फलस्वरूप वे मानसिक तनाव तथा अन्य मनोरोगों के शिकार हो जाते हैं।

गुजरात में एक स्वयंसेवी संस्था ने बड़े-बूढ़ों में मानसिक विकारों के संबंध में एक सर्वेक्षण किया। उसमें यह तथ्य सामने आया कि 88 प्रतिशत वृद्धजन मानसिक विकारों से पीड़ित थे। इसके मुख्य कारण हैं—तनाव, मौत का भय, परनिर्भरता, अकेलेपन और बेबसी का एहसास, डिप्रेशन, व्यर्थता-बोध, सनक, चिंता आदि। इनमें सबसे अधिक यानी 80 प्रतिशत बड़े-बूढ़े मानसिक तनाव से, 52 प्रतिशत हताशा से, 71 प्रतिशत परनिर्भरता से और 75 प्रतिशत मौत के भय के कारण चिंतित पाए गए। इन स्थितियों के चलते वृद्धजनों को कई गंभीर मानसिक रोग हो जाते हैं, जिनका इलाज कराना आवश्यक होता है। ये रोग हैं—पूर्ण भ्रम की स्थिति, हताशा, विक्षिप्तावस्था (डिमेंशिया) और अलजीमर्स रोग आदि। अधिक मानसिक तनाव से उच्च रक्तचाप, दिल का दौरा, पक्षाघात, ब्रेन हैमरेज, माईग्रेन, दमा, स्पांडिलाइटिस, अल्सर जैसे रोग भी पैदा होते हैं। यों तो तनाव के कारण ये सभी रोग हर उम्र के व्यक्ति को हो सकते हैं, परंतु वृद्धावस्था में इनके होने की संभावना बढ़ जाती है।

हमारे देश में बड़े-बूढ़ों को विशेष सम्मान तथा आदर देने की परंपरा रही है जिससे विकसित देशों के वृद्धों के समान उन्हें अकेलेपन और तनाव का शिकार नहीं होना पड़ता। परंतु शहरीकरण तथा आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों में तेजी से आ रहे बदलाव के कारण हमारे परंपरागत मूल्य भी शिथिल होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप, वृद्धजनों की मानसिक परेशानियां बढ़ती जा रही हैं। अत: अपनी जनसंख्या के बहुत बड़े भाग को अकेलेपन और मानसिक रुग्णता से बचाने के लिए सभी स्तरों पर सतर्कता और सक्रियता बरतने की आवश्यकता है। सबसे पहले पारिवारिक स्तर पर प्रयास करने होंगे। हमारे देश में आज भी परिवार समाज की बुनियादी इकाई है। यदि घर के लोग इस बात का ध्यान रखें कि बड़ी उम्र के लोगों में मानसिक विकार पैदा होना स्वाभाविक प्रक्रिया है और उसी के अनुसार उनके साथ आचरण करें तो वृद्धजनों को बहुत-से मानसिक कष्टों से छुटकारा मिल सकता है और उनका तनाव रोगों में बदलने से बच सकता है।

इसके अलावा जब भी घर के किसी बुजुर्ग में किसी तरह के मानसिक विकार के लक्षण दिखाई दें तो तुरंत उन्हें डाक्टर या मनोचिकित्सक को दिखाना चाहिए। जो वृद्धजन शारीरिक दृष्टि से सक्रिय हैं उन्हें समय-समय पर यह समझाया जा सकता है कि वे स्वयं डाक्टर या मनोचिकित्सक से अपनी जांच कराते रहें। वैसे यह काम इतना आसान नहीं है, क्योंकि हमारे समाज में आज भी मानसिक विकारों को छिपाने की प्रवृत्ति पाई जाती है और मनोचिकित्सक की सलाह लेना सामाजिक कलंक माना जाता है। समझदार और जिम्मेदार लोगों को समाज की इस सोच को बदलना होगा। इस प्रवृत्ति के कारण बहुत-से वृद्धजन तभी डाक्टरों के पास जाते हैं जब उनके मानसिक विकार शारीरिक रोगों का रूप ले लेते हैं।

शारीरिक रोगों की जांच व इलाज की भांति मानसिक रोगों की जांच व इलाज के काम में भी स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। क्षेत्र के वृद्धजनों के कार्ड बनाकर नियमित रूप से हर सप्ताह, पखवाड़े या महीने के बाद उनकी जांच करके उन्हें आवश्यक परामर्श दिया जा सकता है, जिससे उनके मानसिक विकार काबू में रहें।

सरकारी स्तर पर बच्चों, महिलाओं, युवकों आदि के विकास व कल्याण के लिए जिस तरह की परियोजनाएं और कार्यक्रम चलाए जाते हैं, वैसे वृद्धजनों के लिए भी चलाए जाने चाहिए। इनमें वृद्धगृह तथा वृद्ध-अनुरक्षण केंद्र खोलने पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। इन आश्रमनुमा संस्थाओं में वृद्धजन आपस में मिलकर एक-दूसरे का सुख-दुःख बांट सकते हैं और अपने मन का बोझ हलका कर सकते हैं। यही नहीं, वे कुछ काम-धंधा करके अपनी आमदनी भी बढ़ा सकते हैं। वृद्धजनों की देखभाल कर रही कुछ संस्थाओं ने इस तरह के केंद्र खोले हैं।

जनसंचार माध्यमों से लोगों में यह चेतना पैदा की जाए कि मानसिक रुग्णता भी शारीरिक रुग्णता की तरह स्वाभाविक प्रक्रिया है और इससे शर्मिंदा होने की जरूरत नहीं है। इससे घरवाले तथा स्वयं वृद्धजन मानसिक रोगों के इलाज के लिए आगे आएंगे। मानसिक तनावों से मुक्ति पाने के उपाय बताने के लिए प्रशिक्षण-कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जा सकता है। कई स्वयंसेवी संस्थाओं ने इस तरह की कार्यशालाओं का सफल आयोजन किया है। पश्चिमी देशों में बड़ी संख्या में लोग वृद्धगृहों तथा अस्पतालों में इलाज करा रहे उन वृद्धजनों के साथ जाकर समय बिताते हैं जिनके सगे-संबंधी उन्हें पूछने नहीं आते। यह वास्तव में बड़े पुण्य का कार्य है। इससे बड़े-बूढ़ों का अकेलापन दूर करने में काफी मदद मिलती

है। हमारे देश में भी इस तरह की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना चाहिए। सरकारी एजेंसियों, स्वयंसेवी संस्थाओं तथा वृद्धगृहों को बड़े-बूढ़ों के मनोरंजन पर भी ध्यान देना चाहिए। इनमें गीत-संगीत के कार्यक्रम, इनडोर खेल तथा मेले आदि शामिल हैं। इनसे वृद्धजनों को तनाव-मुक्ति का अवसर मिलता है।

वृद्धजनों की संख्या और कुल जनसंख्या के मुकाबले उनके अनुपात में वृद्धि का एक खतरनाक परिणाम यह भी हो रहा है कि उनकी सामाजिक पर-निर्भरता बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इस स्थिति को समाजशास्त्रीय शब्दावली में वृद्धावस्था निर्भरता-अनुपात कहा जाता है। इसका अभिप्राय है—15 से 59 वर्ष तक के कामकाजी लोगों पर 60 वर्ष या उससे अधिक उम्र के लोगों की निर्भरता का अनुपात।

1961 से 1991 के बीच इस निर्भरता-अनुपात में लगातार बढ़ोतरी हुई है। 1961 में यह अनुपात 10.93 था जो 1991 में बढ़कर 12.26 हो गया। वर्तमान वृद्धि-दर के हिसाब से वृद्धावस्था-निर्भरता अनुपात सन् 2016 तक 14.12 हो जाएगा। इसमें यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि महिलाओं का निर्भरता-अनुपात पुरुषों से अधिक है।

वृद्धावस्था-निर्भरता का मुख्य कारण यह है कि वृद्धजन शारीरिक दुर्बलता के साथ-साथ आर्थिक रूप से भी पराश्रित हो जाते हैं। अधिकतर बड़े-बूढ़े नौकरी और व्यवसाय आदि से निवृत्त हो जाते हैं तथा उनके बच्चे काम-धंधा संभाल लेते हैं। बड़ी संख्या में वृद्धजन पहले की तरह सक्रियता के साथ काम कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। ग्रामीण लोगों, विशेषकर महिलाओं में निरक्षरता की दर ऊंची होने के कारण भी बड़ी उम्र के लोग कोई सम्मानजनक तथा अपनी शारीरिक क्षमताओं के उपयुक्त रोजगार नहीं पा सकते। नौकरी से मुक्त होने वाले व्यक्ति अवश्य अपने पास थोड़ा-बहुत बचाकर कुछ बेहतर स्थिति में रह सकते हैं, किंतु इनमें भी जो लोग अपनी जमा-पूंजी बच्चों के विवाह या मकान आदि पर लगा देते है, उनकी परनिर्भरता बनी रहती है। रोजगार और काम-धंधा न होने का प्रभाव उनकी मानसिक स्थिति पर भी पड़ता है। आर्थिक परनिर्भरता से उनके आत्मसम्मान को चोट पहुंचती है और वे हीनभावना से ग्रस्त रहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वृद्धजनों को हताशा, हीनभावना, अकेलेपन की चिंता तथा आर्थिक परनिर्भरता के दुष्प्रभाव से बचाना है तो उनके लिए छोटे-मोटे काम-धंधे चलाने पर ध्यान देना होगा। इससे वे व्यस्त भी रहेंगे और आत्मसम्मान की भी रक्षा कर सकेंगे। वास्तव में काम में व्यस्तता वृद्धजनों के

लिए मानसिक और शारीरिक दोनों तरह से उपयोगी है। काम में लगे रहने से मानसिक तनाव में कमी आती है और उनकी शारीरिक सक्रियता भी कायम रहती है। इससे एक और महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि उनके अनुभव और ज्ञान का समाज की भलाई के लिए सदुपयोग किया जा सकता है।

वृद्धजन कल्याण को समर्पित राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख स्वयंसेवी संगठन 'हेल्पेज इंडिया' ने अनेक स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं को अपने क्षेत्र में वृद्धजनों के लिए रोजगार जुटाने की परियोजनाओं के लिए व्यापक पैमाने पर वित्तीय सहायता तथा परामर्श-सेवाएं उपलब्ध कराई हैं। इनमें ऐसी गतिविधियां भी शामिल हैं जिन से बड़े-बूढ़ों को रोजगार मिलने के साथ-साथ उनके क्षेत्र के विकास में भी मदद मिलती है।

वृद्धजनों को विभिन्न काम-धंधों का प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम भी चलाए जा रहे हैं। इनमें लिफाफे बनाना, मुर्गीपालन, दरी बुनना, दुधारू पशु-पालन और सब्जी उगाना जैसे काम शामिल हैं। एक संस्था ने जड़ी-बूटियां उगाने की परियोजना चलाई है। रोजगार का वृद्धजनों के जीवन में कितना महत्त्व है, इसका अनुमान इसी तथ्य से लग जाता है कि 60 वर्ष से अधिक उम्र में ऐसे लोगों की संख्या काफी है जो रोजगार की तलाश में हैं। हां, रोजगार चाहने वालों में महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में काफी कम है। इसका कारण यह है कि महिलाएं घर-परिवार का काम करने तथा पोते-पोतियों को पालने में व्यस्त रहती हैं।

वृद्धजनों की समस्या और उनके समाधान के प्रति हम अभी से सचेत और सक्रिय नहीं हुए तो स्थिति विकटतम रूप ले सकती है। यही कारण है कि 1999 को वृद्धजनों के लिए अंतरराष्ट्रीय वर्ष घोषित किया गया। समाज, सरकार और वृद्धजनों तथा वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहे लोगों को आने वाले समय की चुनौतियों को न केवल पहचानना होगा, बल्कि अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक तथा सामाजिक आचरण में परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन लाने की ओर ध्यान देना होगा। युवा तथा अधेड़ उम्र के लोगों में चेतना लाना और अधिक आवश्यक है क्योंकि उन्हें वृद्धजनों की समस्याओं, दुर्बलताओं तथा विवशताओं को समझकर सहानुभूति के साथ उनसे निपटना भी है और अपने जीवन में आने वाली वृद्धावस्था को सुखी और कष्टरहित बनाने की तैयारी भी करनी है। वह समय चला गया ज़ब वृद्धावस्था की समस्या एक व्यक्ति या ज्यादा से ज्यादा परिवार तक सीमित थी। आज यह समस्या सामाजिक और राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर समूचे विश्व की समस्या बन चुकी है, अतः इससे निपटने के प्रयास भी व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर करने होंगे।

बाल्यावस्था : अपेक्षाएं और उपेक्षाएं

किसी भी राष्ट्र की भावी स्थिति का अनुमान बच्चों को देखकर लगाया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आजादी के बाद आर्थिक विकास तथा शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप हमारे देश के काफी बच्चे पिछली पीढ़ी की तुलना में अधिक सुविधाएं भोग रहे हैं और आगे बढ़ने के कहीं ज्यादा अवसर उन्हें उपलब्ध हैं। अपनी रुचि तथा रुझान के अनुसार वे विभिन्न प्रकार की शिक्षा लेकर अपना जीवन बना सकते हैं। बच्चों को, खासकर शहरी बच्चों को खेल-कूद, मनोरंजन और ज्ञान बढ़ाने की जो सुविधाएं इस समय उपलब्ध हैं, उसका सौंवा हिस्सा भी आजादी से पहले सुलभ नहीं था। वे अच्छा पहनते हैं, अच्छा खाते हैं और बेहतर परिस्थिति में रहते हैं। गांवों में भी अब शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध हैं। कुछ राज्यों में तो हर एक किलोमीटर पर प्राथमिक स्कूल की व्यवस्था हो गई है। बच्चों को स्कूलों में आने को प्रोत्साहित करने के लिए कई राज्यों में दोपहर के मुफ्त भोजन की भी व्यवस्था की गई है। निःशुल्क पुस्तकें और वर्दी भी दी जाती है। गांवों तथा पिछड़े इलाकों में प्राथमिक स्कूलों में निःशुल्क पाठ्य सामग्री की भी व्यवस्था की गई है। इन सब प्रयासों के बावजूद इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जितना ध्यान शहरी बच्चों पर दिया जा रहा है, उतना ग्रामीण बच्चों पर नहीं, जबकि 81 प्रतिशत बच्चे गांवों में रहते हैं। शहरों में भी सरकारी स्कूलों की हालत ठीक न होने से सामान्य बच्चे अच्छे स्तर की शिक्षा से वंचित रहते हैं और पब्लिक स्कूलों की महंगी शिक्षा बहुत कम बच्चों को उपलब्ध हो पाती है। इससे सामाजिक विषमता को बढ़ावा मिल रहा है।

परंतु प्रश्न यह है कि शहरों में बच्चों की शिक्षा की आधुनिक सुविधाएं देने के इन सब प्रयासों का भी क्या परिणाम मिल रहा है? यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि अनुभव यही बताता है कि जो अच्छाई या बुराई शहर में आती है वह देर-सवेर गांवों में भी पहुंच जाती है। शहरों में शानदार स्कूल हैं, आने-जाने के लिए बसें हैं, मां-बाप बड़ी-बड़ी फीस देकर भी अपने बच्चों को 'अच्छे और मशहूर' स्कूलों में दाखिल कराते हैं। कुछ स्कूल तो इतने 'अच्छे' हैं कि

उनमें प्रवेश के लिए मंत्रियों, नेताओं और उच्च अधिकारियों की सिफारिश तथा रिश्वत तक की जरूरत होती है। फिर भी बच्चों का विकास और निर्माण अपेक्षित ढंग से नहीं हो रहा है। लगता है कि रेत की तरह बच्चे हमारी मुट्ठी से खिसकते जा रहे हैं। गुंबद सजाने की होड़ में हम बुनियाद की उपेक्षा कर रहे हैं। जिन बच्चों के लिए सरकार, समाज, मां-बाप और बुद्धिजीवी वर्ग चिंतित हैं, वे आज प्यारे लगने की बजाय डरावने और चिंतनीय लगने लगे हैं।

यह शिकायत अब बहुत आम हो गई है कि आजकल के बच्चे बड़ों के भी बाप बन गए हैं। उनमें न शिष्टाचार है और न ही सलीका। वे न तो पढ़ाई में मन लगाते हैं और न ही परिवार या समाज की जिम्मेदारियों में रुचि लेते हैं। न कहना मानते हैं और न ही मां-बाप या बड़े भाई-बहनों की परवाह करते हैं। झूठ बोलना तो बच्चों के लिए इतना आसान हो गया है जैसे गेंद खेलना।

हम अपने चारों ओर देखें तो ये शिकायतें कमोबेश सच ही लगती हैं। विकसित देशों, विशेषकर पश्चिमी देशों, में भी जहां न गरीबी है और न अधिक बच्चों का झमेला, बच्चे समस्या बनते जा रहे हैं। स्कूलों में जाने वाले बच्चों का व्यवहार अपराधियों जैसा होता जा रहा है। इंग्लैंड में हाल ही में अध्यापकों के एक बड़े संगठन ने अपनी रिपोर्ट में कहा : 'पिछले दस वर्षों में स्कूली बच्चों के बरताव में इतनी असामाजिकता आई है कि वे किसी सभ्य समाज के प्राणी नहीं लगते।' इस रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि बच्चे इतने शरारती, झूठे और आक्रामक हो गए हैं कि अध्यापक के लिए यह जानना कठिन हो गया है कि उन्हें शौच जाने की आवश्यकता है या अध्यापकों को सिर्फ तंग करने या चिढ़ाने का बहाना है। आज लोग बच्चों में भोलापन देखने को तरस गए हैं, जबकि भोलेपन के कारण ही बच्चे चाहे वे अपने हों या पराए, अच्छे और प्यारे लगते हैं। अमेरिका में तो कुछ बच्चों द्वारा अपने साथियों की हत्या किए जाने तक की खबरें मिली हैं।

पश्चिमी देशों के अन्य विकारों की तरह बच्चों के व्यवहार और सोच में परिवर्तन की यह लहर भी हमारे देश को छूने लगी है। संपन्न व तथाकथित शिक्षित परिवारों में, जहां शिक्षा को भी आर्थिक रुतबे का अंग समझा जाता है, यह बुराई बड़ी तेजी से आ रही है। कुछ अमीर बच्चों को अपने घर में जो वातावरण मिलता है उससे वे अध्यापकों को दो टके का आदमी मानते हैं, जो उनके बाप के दान से चल रहे स्कूलों में नौकरी करता है। यही कारण है कि बच्चे अध्यापक के प्रति श्रद्धा रखना तो दूर, उसका समुचित आदर भी नहीं करते। अध्यापकों को

गालियां देना, उनका मजाक उड़ाना, स्कूल की खिड़कियां आदि तोड़ना, कमजोर बच्चों को पीट देना, महिला अध्यापकों के बारे में आपस में अश्लील मजाक करना जैसे लक्षण तथाकथित बड़े और पब्लिक स्कूलों में ही नहीं, सरकारी स्कूलों में भी दिखाई देने लगे हैं। गालियां देने में कहीं कोई संकोच नहीं है। अब तो बच्चे नशीले पदार्थों के शिकंजे में भी आने लगे हैं। लगता है कि हरा-भरा वन रेगिस्तान में बदलता जा रहा है।

सबसे पहले तो यह स्वीकार करना होगा कि बच्चे कच्ची मिट्टी के समान हैं। वे वैसे ही बनेंगे, जैसे हम उन्हें बनाना चाहेंगे। आज उनकी जो स्थिति है, उसके लिए दोषी वे नहीं, हम हैं। इसलिए बच्चों के प्रति किसी प्रकार का दुराग्रह लेकर इस समस्या पर विचार करना गलत होगा। वे तो सहानुभूति और स्नेह के पात्र हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, बच्चों में मानसिक शुष्कता का तूफान स्वतंत्रता के बाद चलना शुरू हुआ। इससे पहले 'प्राब्लम चाइल्ड' शब्द सुनने में नहीं आता था। इसका सीधा कारण यह है कि आजादी के बाद हमारे जीवन-मूल्यों में आमूल परिवर्तन हुआ है। पहले हमारे यहां भौतिक उन्नति को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था। पैसा कमाना परिवार के पालन से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था। धन कमाने की लालसा तथा पैसे को 'सब कुछ' मानने की प्रवृत्ति ने बच्चों को दोहरी मार दी है। एक तो धन-प्राप्ति में ही सारा समय लग जाने के कारण लोगों के पास परिवार के लिए समय नहीं रहा। यही कारण है कि भावात्मक अलगाव और आत्मीय शुष्कता के बुरे नतीजे शिक्षित, संपन्न और पश्चिमी ढंग का जीवन बिताने वाले वर्ग में सबसे अधिक दिखाई दे रहे हैं। दूसरी मार यह है कि संपन्नता की होड़ में बाहर से जो तनाव और चिंताएं लेकर लोग घर आते हैं, वे बच्चों पर क्रोध के रूप में निकालते हैं। बच्चा एक कोने पर उपेक्षित है तो दूसरे छोर पर क्रूरता और शोषण का शिकार है। इसलिए बढ़िया से बढ़िया कपड़े, बूट और टाई के नीचे एक बीमार मन पनपता रहता है और मौका पाकर ज्वालामुखी की तरह फट पड़ता है। तब मां-बाप और अध्यापक अपने दोष ढूंढ़ने की बजाय बच्चे को डरा-धमकाकर अथवा मार-पीटकर सुधारने की कोशिश करते हैं। इसका उलटा असर होता है तथा बच्चा जिद्दी और विद्रोही बनकर पूरे समाज से बदला लेने के लिए अपराधियों जैसा व्यवहार करने लगता है।

उच्च मध्यम वर्ग के परिवारों में भी स्थिति ज्यादा अलग नहीं है। बल्कि इन परिवारों में स्थिति और भी शोचनीय है, क्योंकि इन्हें व्यापार, नौकरियों, क्लबों से फुरसत तो नहीं मिलती, किंतु बच्चों के लिए बौद्धिक चिंता करने के संस्कार

अब भी हैं। उच्च वर्ग जैसी सुविधाएं जुटाने और भोगने में वे इस कदर व्यस्त हैं कि बच्चों के लिए उनके पास धन और चिंता तो हैं, किंतु समय नहीं है। बाकी सब कुछ पैसे से खरीदा जा सकता है किंतु मां-बाप का स्नेह और ममता नहीं। ममता की यही भूख उन्हें कच्ची उमर में सेक्स की ओर ले जाती है। यदि यही स्थिति रही तो पश्चिमी देशों की भांति हमारे यहां भी बहुत जल्दी अवयस्क अविवाहित माताओं की समस्या पैदा हो जाएगी।

संयुक्त परिवार का बिखराव भी बच्चों की उपेक्षा का एक प्रमुख कारण है। संयुक्त परिवार का विघटन हालांकि हमारी बदलती हुई आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम है, किंतु बच्चों के संतुलित तथा स्वस्थ विकास पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा है। मां-बाप की व्यस्तता की स्थिति में दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, बुआ आदि बच्चे की देखभाल कर लेते थे जिससे उनमें मानसिक रिक्तता नहीं आती थी। परंतु अब तो मां-बाप बच्चों को अपने व्यक्तित्व का नहीं, बल्कि बाहरी ताम-झाम और प्रदर्शन का अंग मानने लगे हैं। बच्चों को ऊंचे स्कूलों में भेजने का उद्देश्य अच्छी शिक्षा दिलाना कम अपने आर्थिक स्तर का दिखावा करना अधिक होता है। अच्छी पढ़ाई का मापदंड उसका अपना स्तर नहीं, बल्कि यह है कि उस पर धन कितना खर्च हो रहा है। यही कारण है कि पढ़ाई-लिखाई की बात चलने पर मां-बाप अपने बच्चों की पढ़ाई या पुस्तकों की बजाय उन पर खर्च हुई राशि की जानकारी देने लगते हैं।

इन सामाजिक-आर्थिक कारणों के प्रभाव से बच्चों को तभी बचाया जा सकता है जब संस्कारों की समुचित व्यवस्था हो। किंतु दुर्भाग्य से नैतिकता और अध्यात्म के क्षेत्र में सारे संसार का अगुआ होने का दम भरने वाले हमारे देश में आज अपनी भावी पीढ़ी की बुनियाद को भरने के लिए संस्कार की मिट्टी नहीं है। धर्म और संस्कृति की रक्षा का दावा करने वाली संस्थाएं बच्चों को नैतिक शिक्षा देने के नाम पर धर्मांधता को बढ़ावा देती हैं और प्रेम व एकता की बजाय घृणा तथा अलगाव का पाठ पढ़ाती हैं। अतः गैर-सरकारी स्तर पर बच्चों को संस्कारित करने के एक सुदृढ़ ढांचे की आवश्यकता है। सरकारी स्कूलों में धर्म-निरपेक्षता के गलत अर्थ लगाए जाने के कारण नैतिक शिक्षा को राजनीति मानकर त्याज्य समझा जाता है। गैर-सरकारी स्कूलों में यज्ञ, हवन, प्रार्थना, गुरु ग्रंथ-साहिब, कुरान अथवा बाइबल का पाठ जैसे कर्मकांड के आगे नैतिक शिक्षा बढ़ती नहीं है। सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो द्वारा जानकारी दी जा सकती है, संस्कार नहीं। फिर संचार माध्यम भी अब व्यावसायिक बन चुके हैं और संस्कारित करने का

उद्देश्य काफी पीछे छूट गया है। फिल्मों और टेलीविजन की कृपा से किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते बच्चे अपनी आंखों के सामने सैकड़ों-हजारों हत्याएं, हिंसक आक्रमण, बलात्कार आदि देख चुके होते हैं। इससे उनकी संवेदनशीलता कुंद हो जाती हैं और अपराध उनके लिए अपराध नहीं रहते।

मां-बाप बच्चों से अपेक्षा तो अच्छा बनने की करते हैं पर उनके सामने कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाते। उनका दोगला व्यवहार बच्चों को दिशा देने की बजाय उन्हें विद्रोही बना देता है। बच्चों से तो कहा जाएगा कि लड़ना-झगड़ना बुरी बात है, परंतु स्वयं आपस में भी लड़ेंगे और पड़ोसियों से भी।

बच्चों को बाहर जाने की मनाही है, किंतु मां सारे मुहल्ले में घूमकर एक घर की खबर दूसरों को पहुंचाने में लगी रहती है। बच्चों को इसलिए पीट दिया जाता है कि वह स्कूल से पेंसिल चुराकर लाया है, जबकि पिताजी पेंसिलों का पूरा डिब्बा ही दफ्तर से उठा लाते हैं। बच्चों को 'झूठ बोलना पाप है' का पाठ पढ़ाया जाता है और पिताजी उन्हीं बच्चों के सामने अपनी दुकान पर झूठ बोलकर ग्राहकों को उल्लू बनाने के किस्से चटकारे लेकर सुनाते हैं। बच्चों से कहा जाएगा कि ज्यादा टी.वी. देखना खराब बात है और उन्हें पढ़ने के लिए दूसरे कमरे में बिठाकर स्वयं टी.वी. सीरियल देखेंगे। इस तरह का दोगला व्यवहार देखने के लिए आपको दूर नहीं जाना पड़ेगा। अपने या पड़ोस के किसी भी घर में यह स्थिति देखी जा सकती है।

घर के अलावा बाहर का वातावरण भी बच्चों को गैर-जिम्मेदार बनाता है। हमारे नेताओं, उपदेशकों और बुद्धिजीवियों की कथनी और करनी में भी जमीन-आसमान का अंतर रहता है। भ्रष्टाचार, बेईमानी और सत्ता के लिए धोखा देने की खबरें पढ़ने, सुनने व देखने के बाद सच बोलने, मिल-जुलकर रहने, तथा देश-सेवा के उनके उपदेशों से बच्चे कहां तक प्रभावित हो पाएंगे? नई पीढ़ी को विश्वास होता जा रहा है कि अच्छी बातें सिर्फ कहने के लिए हैं और अपना मतलब पूरा करने वाले सारे काम करने के लिए हैं।

इसमें संदेह नहीं कि स्थिति अत्यंत चिंतनीय है और ऐसी ही बनी रही तो मानसिक उलझाव की यह पतंग गांवों के आकाश में भी उड़ने लगेगी। तब इसे नीचे उतारना असंभव हो जाएगा। इसलिए आवश्यक है कि घाव को नासूर बनने से पहले ही ठीक करने के प्रयास शुरू कर दिए जाएं। यह संतोष की बात है कि हमारी बुनियाद हिलने तो लगी है परंतु उसे फिर से जमाने की पूरी संभावनाएं मौजूद हैं। यदि अभी से ध्यान नहीं दिया गया तो देश को स्वतंत्र कराने के लिए

किए गए बलिदान और त्याग व्यर्थ जाएंगे और महात्मा गांधी का 'रामराज' का सपना साकार नहीं हो पाएगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सरकार, समाज, अध्यापक और बुद्धिजीवी समन्वित रूप से बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य को ठीक करने के प्रयास करें।

वास्तव में यह समस्या ऐसी है जो प्रशासनिक तथा कानूनी उपायों से हल नहीं होगी। इसमें पूरे समाज का दायित्व है, किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अध्यापकों और मां-बाप को ही निभानी है। सरकार तथा बुद्धिजीवी वर्ग का कर्तव्य है कि वे मां-बाप को आगाह करें कि उनकी वास्तविक संपत्ति उनकी संतान है। यदि संतान ठीक नहीं है तो इतनी बड़ी दौलत किस काम की है। अपने बच्चों को प्यार दें और उनके लिए समय निकालें तो आधी समस्या अपने-आप हल हो जाएगी। इस संदर्भ में टेलीविजन की भूमिका की भी समीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि यह परिवार में दूरी बढ़ा रहा है। इसके कारण परिवार के सदस्य एक सोफे पर बैठे-बैठे भी कोसों दूर रहते हैं। उन्हें आपसी सुख-दुःख बांटने की फुरसत ही नहीं। अध्यापकों को भी प्रशिक्षित किया जाना चहिए कि वे बच्चों की पारिवारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को समझकर उसी के अनुरूप व्यवहार करें। इसके साथ ही अध्यापकों को उचित वेतन दिया जाना चाहिए जिससे वे प्रतिष्ठा के साथ समाज में रह सकें।

इस प्रकार समाज के सभी वर्ग अपने भविष्य की इस नींव पर मिलकर ध्यान देंगे तो हमारी इमारत बहुत मजबूत बनेगी और कोई भी भूचाल और तूफान उसे आसानी से डिगा नहीं पाएगा।

संचार विमर्श

जनसंचार माध्यम और उनका स्वरूप

कोई सूचना, विचार या भाव दूसरों तक पहुंचाना ही मोटे तौर पर संचार या कम्युनिकेशन कहलाता है। यों मनुष्य आदिकाल से ही किसी न किसी तरीके से संचार करता रहा है। बल्कि संचार की मानव सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन आधुनिक युग में संचार ने नया रूप ले लिया है। अब संचार के ऐसे माध्यम सामने आ चुके हैं, जिनसे लाखों-करोड़ों लोगों को एक साथ जानकारी पहुंचाई जा सकती है। अनेक लोगों तक एक साथ संदेश पहुंचाना ही जनसंचार अथवा मास कम्युनिकेशन कहलाता है। आज के युग में तो संचार माध्यमों के बिना काम कर पाना एकदम असंभव हो गया है। अपने रोजमर्रा के जीवन में हमें कितनी ही तरह से व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय स्तर की जानकारी मिलती रहती है। इनमें से कुछ सूचनाएं लेने के लिए तो हम विशेष रूप से प्रयास करते हैं, जबकि कुछ सूचनाएं अपने-आप ही हमारे पास आती रहती हैं। सूचनाएं पहुंचाने वाले प्रमुख जनसंचार माध्यम हैं पत्र-पत्रिकाएं, रेडियो, टेलीविजन और सिनेमा। पत्र-पत्रिकाएं मुद्रित माध्यम के अंतर्गत आती हैं जबकि रेडियो और टेलीविजन इलेक्ट्रॉनिक अथवा प्रसारण माध्यम कहलाते हैं। रेडियो और टेलीविजन का महत्त्व अखबारों से अधिक है क्योंकि अनपढ़ लोग भी सुन और देखकर इनसे लाभ उठा सकते हैं, जबकि पत्र-पत्रिकाओं का लाभ उठाने के लिए साक्षर होना आवश्यक है। दूसरी ओर, टेलीविजन का असर रेडियो से कहीं अधिक होता है क्योंकि रेडियो केवल सुना जा सकता है, जबकि टेलीविजन सुनने के साथ-साथ देख भी सकते हैं। भारत में समाचार-पत्र तो प्रारंभ से ही निजी क्षेत्र में रहे हैं जबकि रेडियो और टेलीविजन सरकार के नियंत्रण में रहे। परंतु अब इन दोनों माध्यमों में भी गैर-सरकारी एजेंसियों का प्रवेश हो गया है और टेलीविजन के कुछ उपग्रह चैनलों ने तो मनोरंजन और सूचना—दोनों दृष्टियों से भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

सिनेमा का उदय मुख्यतया मनोरंजन की विधा के रूप में हुआ। यद्यपि जागरण और ज्ञान बढ़ाने में भी फिल्मों की विशेषकर, लघु फिल्मों तथा वृत्तचित्रों की उल्लेखनीय भूमिका रही है परंतु फिल्मों के निर्माण का मुख्य प्रयोजन मनोरंजन

रहता है।

उपग्रह संचार टेक्नोलॉजी ने एक और अत्यंत सशक्त जनसंचार माध्यम को जन्म दिया है जिसने पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो और टेलीविजन या सिनेमा सभी को अपने में समेट लिया है। यह है इंटरनेट। इंटरनेट ने सूचना तथा जनसंचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति ला दी है।

इस लेख में जन-संचार के सूचनापारक अर्थात पत्रकारिता पक्ष का विवेचन किया जा रहा है।

जनसंचार माध्यमों की पहुंच और प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि अब आर्थिक, राजनीतिक, शिक्षा और लड़ाई के मैदान तक में दूसरों को नीचा दिखाने के लिए भी इन माध्यमों का कभी छिपकर और कभी खुलकर इस्तेमाल किया जाता है। एक देश के जनसंचार माध्यम, खासकर रेडियो और टेलीविजन, दूसरे देश के लोगों के विचारों तथा जीवन को प्रभावित करने के लिए तरह-तरह के झूठे-सच्चे कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। उपग्रह संचार के बढ़ते प्रयोग के कारण हम दिल्ली या भारत के किसी भी शहर में बैठकर दुनिया-भर के रेडियो और टेलीविजन कार्यक्रमों का आनंद ले सकते हैं। जनसंचार माध्यमों की टेक्नोलॉजी में आई इस क्रांति से अछूता रहकर कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता। जन-संचार माध्यमों की राजनीतिक और कूटनीतिक क्षमता का ज्वलंत उदाहरण था खाड़ी युद्ध। कहा जाता है कि अमेरिका तथा उसके मित्र देशों ने सूचना-तंत्र के बल पर ही इस लड़ाई को जीता। 2001 में जब भारत तथा पाकिस्तान का शिखर सम्मेलन हुआ तो सम्मेलन की सफलता/विफलता में नेताओं से अधिक भूमिका टेलीविजन की रही। पाकिस्तान ने इस सशक्त जन-संचार माध्यम का आवश्यकता से अधिक इस्तेमाल करके अपना पक्ष दुनिया के सामने अधिक जोरदार ढंग से रखा किंतु शिखर वार्ता को विफल कर दिया। दूसरी ओर, भारत ने इस माध्यम का अपर्याप्त इस्तेमाल करके संयमी होने की अपनी साख तो बरकरार रखी, किंतु प्रचार-युद्ध में पाकिस्तान से पिछड़ गया।

जनसंचार माध्यमों का रचनात्मक योगदान 26 जनवरी 2001 को गुजरात में आए विनाशकारी भूकंप के दौरान देखने को मिला। भूकंप के कारण हुए जान-माल की भारी क्षति एवं पीड़ा के हृदयविदारक दृश्य टेलीविजन पर अपनी आंखों के सामने देखकर दुनिया-भर के लोगों में करुणा तथा सहानुभूति का ऐसा व्यापक आवेग उठा कि देखते ही देखते देश-विदेश से सहायता कार्यकर्ता गुजरात के विभिन्न स्थानों पर पहुंच गए और सहायता एवं राहत सामग्री का अंबार लग गया।

संचार माध्यमों का उद्देश्य

जैसा कि पहले कहा गया है—किसी भाव, विचार या बात को दूसरे लोगों तक पहुंचाना ही संचार का मुख्य प्रयोजन है। परंतु संगठित रूप से काम करने वाले जनसंचार माध्यम मोटे तौर पर तीन उद्देश्य लेकर चलते हैं। ये हैं—सूचना, मनोरंजन तथा शिक्षा। सूचना में समाचार और विचार पक्ष आता है, मनोरंजन में गीत, कहानी, नाटक, धारावाहिक तथा इसी तरह के अन्य अनेक कार्यक्रम आते हैं और शिक्षा में स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने वाले कार्यक्रम और परिचर्चा, वार्ता, भेंटवार्ता तथा विभिन्न विषयों पर लेख, फीचर, वृत्तचित्र और समसामयिक विषयों के कार्यक्रम आदि आते हैं। ये तीनों उद्देश्य एक-दूसरे से इतना अधिक जुड़े हुए हैं कि इनकी अलग-अलग व्याख्या करना बहुत कठिन है। यह आवश्यक नहीं कि मनोरंजन करते हुए शिक्षा न दी जाती हो और सूचना देते हुए मनोरंजन न होता हो। हां, इतना अवश्य रहता है कि किसी विशेष कार्यक्रम में किसी एक पक्ष को अधिक महत्त्व मिल जाता है। जनसंचार के किसी कार्यक्रम में तीनों उद्देश्य पूरे किए जा सकते हैं तो किसी में दो अथवा एक। अत: तीनों उद्देश्यों की पूर्ति कभी एक साथ तो कभी अलग-अलग करने की प्रक्रिया चलती रहती है।

जनसंचार की प्रक्रिया

संचार माध्यम से कोई संदेश उसके प्रेषक से ग्रहणकर्ता तक कैसे पहुंचता है, इस प्रक्रिया को समझ लेने से जनसंचार माध्यमों के बाकी पहलुओं को समझने में आसानी रहेगी। प्रेषक से प्राप्तकर्ता तक सूचना के पहुंचने की प्रक्रिया इस प्रकार है:

प्रेषक → संदेश → माध्यम → प्राप्तकर्ता।

परंतु यह प्रक्रिया अधूरी है। इसमें हमें यह पता नहीं चलता कि माध्यम की क्या भूमिका रहती है। उदाहरण के लिए—रेडियो या टेलीविजन पर हम जो सुनते या देखते हैं वह स्टूडियो से प्रसारित किया जाता है। इस प्रक्रिया में माइक, प्रसारण, ट्रांसमीटर और मॉनीटरिंग सेट जैसे उपकरणों का उल्लेखनीय योगदान रहता है। स्टूडियो में बोले या दर्शाए गए शब्दों और चित्रों का विद्युत तरंगों के रूप में कोडीफिकेशन होता है और उन तरंगों का डिकोडीफिकेशन होने अर्थात् पुन: ध्वनि एवं चित्र रूप में परिवर्तित होने पर हमारे कान एवं आंखें उन्हें सामान्य रूप से ग्रहण करती हैं। यह प्रक्रिया इस प्रकार है :

प्रेषक → संदेश → कोडिंग → माध्यम → डीकोडिंग → प्राॅप्तकर्ता।

ध्यान देने की बात है कि संचार-क्रिया इकतरफा गतिविधि नहीं है। संचार पूर्ण तभी माना जाता है जब संदेश को ग्रहण करने वाले की प्रतिक्रिया-भी प्रेषक तक पहुंचती रहे। इसे फीडबैक या प्रतिक्रिया कहा जाता है। यह फीडबैक भी उसी प्रक्रिया से पहुंचता है जिस प्रक्रिया से मूल संदेश भेजा जाता है। अंतर केवल यही है कि ग्रहणकर्ता तब प्रेषक का स्थान ले लेता है और मूल प्रेषक को ग्रहणकर्ता की भूमिका मिल जाती है। यह प्रक्रिया होगी :

फीडबैक → प्रेषक (प्राप्तकर्ता) → संदेश → कोडिंग → माध्यम → डिकोडिंग → प्राप्तकर्ता (प्रेषक)

लेकिन कभी-कभी यह पूरी प्रक्रिया अपनाने पर भी संचार का कार्य सफलता से हो पाता। ऐसा तभी होता है जब इस प्रक्रिया में एक और तत्त्व 'बाधा' जुड़ जाता है। इसका मतलब यह है कि प्रेषक जो संदेश देना चाहता है उसे ग्रहणकर्ता उसी अर्थ में ग्रहण नहीं कर पा रहा। कहा कुछ जाता है पर समझा कुछ और जाता है या संदेश ग्रहण ही नहीं हो पाता। बाधा को 'नॉयस' या 'शोर' भी कहा जाता है।

जनसंचार प्रक्रिया में भाषा का स्थान

यों तो संकेतों से भी काफी कुछ दूसरों को समझाया जा सकता है, परंतु पूर्ण जनंसचार के लिए भाषा का उपयोग बहुत जरूरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दुनिया के लोगों को सूचनाएं लेने-देने के लिए सारी भाषाएं जानना आवश्यक है। परंतु अपनी बात, विचार या दृष्टिकोण दूसरों तक पहुंचाने के लिए किसी ऐसी भाषा का सहारा लेना पड़ता है, जिसे अधिक से अधिक लोग समझ सकें तथा उसे समझने वाले फिर दूसरी भाषाओं को जानने वाले व्यक्तियों तक बात पहुंचा सकें। इसलिए हमें अपनी भाषा का इतना ज्ञान अवश्य हो कि हम अपनी बात स्पष्ट और कारगर ढंग से प्रकट कर सकें तथा दूसरों द्वारा भेजे गए संदेश को सही रूप में ग्रहण कर सकें। इसके अतिरिक्त यदि संदेश की भाषा दुरूह होगी या कहने का ढंग बोझिल तथा उबाऊ होगा तो ग्रहण करने वाले की रुचि घट जाएगी। जो बात भाषण के रूप में कही जाए, वही कहानी, नाटक या सीरियल के जरिये बताई या दर्शाई जाए तो जल्दी पल्ले पड़ती है। हर माध्यम में पाठक, श्रोता अथवा दर्शक वर्ग के अनुरूप भाषा शैली का इस्तेमाल बहुत महत्त्व रखता है।

समाचार

जिस संदेश को भेजने और ग्रहण करने का अभी हमने ऊपर विवेचन किया है, संचार की व्यावहारिक शब्दावली में वह समाचार, संवाद या न्यूज कहलाता है। पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रसारण पत्रकारिता में संचार का मूल आधार समाचार ही रहता है।

सामान्यतया किसी भी नई घटना या वर्तमान घटना में नए मोड़ को समाचार माना जाता है। इसे प्रचलित पत्रकारिता की भाषा में 'स्टोरी' और 'आइटम' भी कहा जाता है।

जब भी कोई बात, घटना या विचार दूसरों को बताने लायक लगे, वह समाचार की श्रेणी में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए— रामायण और महाभारत की कथाएं बच्चा-बच्चा जानता है। परंतु आज यदि कोई विद्वान यह सिद्धांत प्रतिपादित कर दे कि महाभारत का समय रामायण से पहले का था तो वह समाचार बन जाएगा। इसी तरह अलग-अलग वर्गों से संबंधित विषयों की नई जानकारी भी समाचार की श्रेणी में आती है। बहुत से लोग शेयरों के मूल्यों या बाजार भावों के समाचारों पर कोई ध्यान नहीं देते, किंतु ऐसे भी हैं जो केवल इसी तरह की खबरें पढ़ने के लिए अखबार खरीदते हैं। कहने का मतलब यह है 'क्या खबर है?' प्रश्न से हम जो-जो जानना चाहते हैं, उसी का उत्तर समाचार है।

समाचारों के स्रोत

यों तो इतने बड़े संसार में हर समय हर जगह ऐसा कुछ न कुछ होता रहता है, जो अपने-आपमें समाचार होता है, किंतु यह जानकारी अपने-आप तो दूसरों तक पहुंच नहीं पाती। मान लो, कहीं कोई दुर्घटना हो जाए, बम फट जाए, आग लग जाए, बाढ़ आ जाए, भूकंप आ जाए या कोई सभा-कार्यक्रम या दंगा-फसाद हो तो उसमें शामिल अथवा प्रभावित व्यक्तियों और कुछ हद तक आसपास के लोगों को तो उसकी जानकारी हो जाएगी, पर दूर-दूर के लोगों तक तो संचार माध्यम ही इन खबरों को पहुंचा सकते हैं। प्रश्न यह है कि यदि इन संचार माध्यमों को ही इन घटनाओं की पूरी और सही सूचना नहीं मिलेगी तो वे लोगों तक पहुंचाएंगे कैसे? समाचार-पत्रों, रेडियो, टेलीविजन आदि तक खबरों को पहुंचाने वाले साधन समाचार के स्रोत कहलाते हैं।

समाचार-पत्रों और प्रसारण-माध्यमों यानी रेडियो और टेलीविजन द्वारा

सूचनाएं प्राप्त करने की प्रक्रिया लगभग एक जैसी है। इन दोनों प्रकार के माध्यमों के स्वरूप तथा समाचार भेजने की पद्धति में अंतर के अनुसार समाचार संग्रह करने की प्रक्रिया में मामूली-सी भिन्नता है, पर कुल मिलाकर प्रक्रिया एक जैसी है।

संवाददाता

समाचार एकत्र करने के लिए अखबार तथा प्रसारण माध्यमों के समाचार विभाग देश के लगभग सभी प्रमुख शहरों और अपने साधनों के मुताबिक विदेशों में भी संवाददाता नियुक्त करते हैं। ये संवाददाता अपने-अपने क्षेत्र की सूचनाएं अपने जनसंचार माध्यमों को भेजते रहते हैं। देश की राजधानी या और प्रांतों की राजधानियों में अधिक समाचार मिलने की संभावना रहती है, इसलिए वहां वरिष्ठ संवाददाता रखे जाते हैं। इसी तरह संसद तथा विधानसभा की कार्यवाही की रिपोर्टिंग करने के लिए संसदीय संवाददाता नियुक्त किए जाते हैं। काम और समाचार की महत्ता के हिसाब से इन संवाददाताओं का स्तर निर्धारित रहता है।

जनसंचार माध्यमों द्वारा अंशकालिक संवाददाता भी नियुक्त किए जाते हैं जो किसी शहर या कस्बे के समाचार समय-समय पर भेजते रहते हैं। विश्वविद्यालय, खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि विशिष्ट प्रकार के और कभी-कभी होने वाली गतिविधियों के समाचारों के लिए भी अंशकालिक संवाददाता नियुक्त किए जाते हैं। इन्हें पी.टी.सी. या स्टिंगर भी कहा जाता है। ये संचार माध्यम के वेतनभोगी कर्मी नहीं होते और उन्हें उनके काम के अनुसार भुगतान किया जाता है। कुछ पत्रकार किसी भी अखबार या संचार माध्यम से संबद्ध न होकर इन माध्यमों के लिए स्वतंत्र रूप से काम करते हैं। ये स्वतंत्र या फ्रीलांस पत्रकार कहलाते हैं।

संवाददाता सम्मेलन और भेंटवार्ताएं भी समाचारों तथा सूचनाओं के प्रमुख स्रोत हैं। विभिन्न विषयों पर आयोजित संवाददाता सम्मेलनों में संवाददाता स्वयं भाग लेते हैं, जहां महत्त्वपूर्ण निर्णयों की घोषणाएं की जाती हैं। प्रश्नोत्तर में भी अनेक जानकारियां सामने आती हैं।

भेंटवार्ता और साक्षात्कार में आमने-सामने बातचीत होती है, जिससे निकली जानकारी से महत्त्वपूर्ण समाचार बनते हैं। ये स्रोत रेडियो व टेलीविजन माध्यमों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

समाचार एजेंसियां

समाचार प्राप्त करने का दूसरा मुख्य स्रोत है, संवाद समिति या न्यूज एजेंसी। ये एजेंसियां किसी एक संचार माध्यम या अखबार के लिए काम नहीं करतीं, बल्कि विभिन्न अखबारों तथा संचार माध्यमों के साथ समझौते के आधार पर ये एजेंसियां नियमित रूप से खबरें भेजती रहती हैं। ये खबरें टेलीप्रिंटरों और कंप्यूटर नेटवर्क के जरिये भेजी जाती हैं। भारत में प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया (पी.टी.आई) तथा युनाइटेड न्यूज आफ इंडिया (यू.एन.आई.) प्रमुख समाचार एजेंसियां हैं। सारे देश में प्रमुख शहर टेलीप्रिंटर तथा कंप्यूटर नेटवर्क से इन समाचार समितियों से जुड़े हुए हैं जिनके माध्यम से चौबीसों घंटे एक से दूसरे स्थानों पर अखबारों, रेडियो, टेलीविजन केंद्रों तथा कुछ अन्य कार्यालयों में समाचार पहुंचते रहते हैं। इन दोनों एजेंसियों की हिंदी शाखाएं भी हैं जो क्रमश: 'भाषा' और 'यूनीवार्ता' के नाम से हिंदी और भारतीय भाषाओं में खबरें भेजती हैं।

विदेशी समाचारों के लिए कुछ विदेशी समाचार समितियों—रायटर, ए.एफ.पी. आदि से समाचार लिए जाते हैं। इन एजेंसियों से भारतीय संवाद समितियों का करार रहता है जो यहां के जनसंचार माध्यमों को विदेशी समाचार उपलब्ध कराते हैं। टेलीविजन के लिए कुछ विशिष्ट एजेंसियां भी हैं जो समाचार तथा उनके विजुअल प्रेषित करती हैं। इनमें ए.एन.आई., ए.वी.एन., ए.पी.टी.एन., रायटर आदि उल्लेखनीय है।

सूचना कार्यालय तथा विविध संस्थाएं

इन एजेंसियों से तो समाचार खरीदे जाते हैं, किंतु संचार माध्यमों को कई स्थानों तथा सूत्रों से स्वत: ही समाचार मिलते रहते हैं। इनमें मुख्य हैं सरकारी मंत्रालय और विभागों के समाचार जारी करने वाले सूचना विभाग। इनमें केंद्र सरकार का 'पत्र सूचना कार्यालय' तथ्य राज्यों की राजधानियों में राज्य सरकारों के सूचना निदेशालय या कार्यालय शामिल हैं। ये कार्यालय प्रतिदिन आम जनता के हित की जानकारी या सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों से संबंधित सूचनाएं जारी करते हैं, जो अखबारों, समाचार एजेंसियों तथा संचार माध्यमों में पहुंचाई जाती हैं। इसके अलावा राजनीतिक दल, विश्वविद्यालय, सार्वजनिक प्रतिष्ठान, औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन आदि अपने-अपने कार्यों तथा गतिविधियों के बारे में जानकारी देने के लिए प्रेस विज्ञप्तियां जारी करते हैं जो समाचार का रूप ले लेती हैं।

हिंदी पत्रकारिता : दशा और दिशा

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा खंभा माना गया है। कोई भी लोकतांत्रिक समाज स्वतंत्र पत्रकारिता के बिना पंगु है। परंतु भारत में पत्रकारिता का प्रादुर्भाव और विकास लोकतंत्र की स्थापना से बहुत पहले हो गया था। यों तो प्रारंभ में अखबार निकालने का काम भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूत करने के उद्देश्य से शुरू हुआ, किंतु आगे चलकर शिक्षा और संचार जैसे अन्य आधुनिक तत्त्वों की भांति पत्रकारिता भी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने का माध्यम बन गई। इस दृष्टि से हिंदी पत्रकारिता का विशेष योगदान रहा। यद्यपि हिंदी के पहले समाचार-पत्र 'उदंत मार्तंड' का प्रकाशन 30 मई 1826 को प्रारंभ हुआ, परंतु हिंदी पत्रकारिता ने परिपक्वता 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में ही प्राप्त की जब कोलकाता, बनारस, इलाहाबाद, दिल्ली आदि स्थानों से निकलने वाले कई अखबारों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का बिगुल बजाना शुरू कर दिया। उस समय की पत्रकारिता की प्रेरणाशक्ति और भूमिका को अकबर इलाहाबादी की इन लोकप्रिय पंक्तियों में समझा जा सकता है :

''खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।''

शायद अखबार की इसी ताकत को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रवादियों ने अखबार निकालना या अखबारों में लेख लिखना स्वतंत्रता आंदोलन का अंग माना। स्वतंत्रता से पहले की हिंदी पत्रकारिता ने बहुत जल्दी समाज में सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया और राजनेता, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता और बुद्धिजीवी पत्रकारिता के माध्यम से आम लोगों तक अपनी बात पहुंचाने लगे। महात्मा गांधी, गणेश शंकर विद्यार्थी, कमलापति त्रिपाठी जैसे स्वतंत्रता-सेनानियों के अतिरिक्त भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, प्रताप नारायण मिश्र, माखन लाल चतुर्वेदी, बाबूराव पराड़कर, अंबिका दत्त वाजपेयी सरीखे विद्वानों ने हिंदी पत्रकारिता को परवान चढ़ाया। उस समय हिंदी पत्रकारिता में व्यवसाय एवं अर्थोपार्जन का उद्देश्य एकदम अनुचित था, यहां तक कि पत्रकारों को यश और नाम की भूख

भी नहीं थी। प्रताप, मतवाला, अर्जुन, स्वतंत्र, आज, विशाल भारत, उजाला, नवयुग, रणभेरी जैसे प्रसिद्ध समाचार-पत्र अंग्रेजों के विरुद्ध आवाज उठाने के कारण कड़े विरोध और दमन के बावजूद बिना कोई समझौता किए अपने अस्तित्व के लिए जूझते रहे।

स्वतंत्रता के पश्चात विकास के लिए अनुकूल वातावरण, सरकारी प्रोत्साहन, लोकतंत्र के विकास, साक्षरता-दर में वृद्धि तथा उपभोक्तावाद एवं विज्ञापनों के अवसरों के विस्तार जैसे अनेक कारणों से हिंदी पत्रकारिता की न केवल उल्लेखनीय प्रगति हुई, बल्कि इसने विविध क्षेत्रों में भी प्रवेश किया। विज्ञान, वाणिज्य, व्यापार, वित्त, साहित्य, कला, बाल एवं महिला-संबंधी विषयों तथा फिल्म आदि विभिन्न क्षेत्रों एवं विषयों से जुड़ी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। कुछ पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार-संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। नौवें दशक के मध्य तक हिंदी पत्रकारिताा नए विषयों और नई टेक्नोलॉजी को आत्मसात करती हुई बराबर आगे बढ़ती रही।

चुनौतियों का दौर

परिस्थितियां बदलने पर पत्रकारिता व्यवसायोन्मुखी होती गई और नई टेक्नोलॉजी के आगमन से अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ी जिससे एक ही व्यक्ति के संपादक और मालिक होने की परंपरा धराशायी हो गई। यही नहीं, व्यावसायिक दृष्टिकोण के चलते प्रसार-संख्या बढ़ाने तथा अधिकाधिक विज्ञापन लेने की होड़ में समाचारों एवं विचारों के साथ समझौते की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और प्रतिबद्ध पत्रकारों के स्थान पर पेशेवर पत्रकार इस क्षेत्र में आने लगे और पत्रकारिता का नैतिक स्तर गिरने लगा। बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में अनेक स्तरीय पत्रिकाएं बंद हो गईं। किसी भी प्रतिबद्ध पत्रकार या बुद्धिजीवी के लिए अखबार या पत्रिका चला पाना कठिन ही नहीं, असंभव हो गया। जिस हिंदी पत्रकारिताा ने अपना धर्म निभाते हुए समाज को स्वतंत्रता एवं राष्ट्र-निर्माण का सपना प्रदान किया था, वह ढेर सारी चुनौतियों के बीच दोराहे पर आकर खड़ी हो गई।

पाठकों की सोच

हिंदी साहित्य की भांति पत्रिकाओं, विशेषकर गंभीर विषयों की पत्रिकाओं को भी पाठक नहीं मिल रहे हैं। जहां अंग्रेजी की गंभीर विषयों की पुस्तकों की लाखों प्रतियां बिक जाती हैं, वहां हिंदी के अधिकतर कहानी-संग्रह तथा उपन्यास तक

दूसरे संस्करण को तरस जाते हैं। इसका कारण कीमतें ऊंची रखा जाना बताया जाता है। सच तो यह है कि कीमतें इसलिए ऊंची रखी जा रही हैं क्योंकि बहुत कम प्रतियां बिक पाने के कारण प्रकाशक अपनी राशि भी वसूल नहीं कर पाते। साहित्यिक तथा गंभीर विषयों की पत्रिकाएं भी अपना खर्च न निकाल पाने के कारण बंद होती जा रही हैं।

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता बांग्ला की महान साहित्यकार एवं समाजकर्मी महाश्वेता देवी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया जो हिंदी साहित्य तथा पत्रकारिता के संदर्भ में और भी अधिक सार्थक है। उन्होंने कहा कि हमें उस नए पाठक वर्ग की जरूरतों को ध्यान में रखना होगा जो अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर आ रहा है। यह भारतीय साहित्य तथा पत्रकारिता की सबसे गंभीर भावी चुनौती है। जिस समाज में किसी बालक की प्रतिभा का मापदंड यही हो कि वह अंग्रेजी बहुत अच्छी बोल लेता है और जिस समाज में मां-बाप का एकमात्र सपना बच्चे को अंग्रेजी में पारंगत बनाना हो, वहां हिंदी तथा भारतीय भाषाओं के विकास एवं उत्थान की सारी योजनाएं खोखली सिद्ध होने वाली हैं। जब हमारी नींव में अंग्रेजी का सीमेंट और गारा डाला जा रहा है तो इमारत में भारतीय भाषाओं के निवास की अपेक्षा करना आकाश में कुसुम उगाने जैसा है। अब जो नई पीढ़ी आ रही है वह बोल-चाल में भले ही अंग्रेजी शब्दों से मिश्रित हिंदी का इस्तेमाल करे परंतु पढ़ने तथा लिखने का उसका माध्यम केवल अंग्रेजी है। व्यापार, नौकरी तथा अन्य आवश्यक काम-काज के लिए भी अंग्रेजी का सहारा लेना आवश्यक है। शिक्षित वर्ग के अधिकतर लोग न केवल अंग्रेजी पत्रिकाएं बल्कि अंग्रेजी अखबार भी पढ़ना पसंद करते हैं। हिंदी समाचार-पत्र वही लोग लेते हैं, जो कम पढ़े-लिखे हैं, हिंदी से अतिरिक्त प्रेम करते हैं, अपना कैरियर बना चुके हैं अथवा हिंदी जिनके पेशे से जुड़ी हुई है। जो शिक्षित लोग हिंदी समाचार-पत्र खरीदते हैं वे अंग्रेजी पत्र भी लेते हैं। यह बात दोहराने की जरूरत नहीं कि अपनी भाषा से प्रेम की परंपरा हिंदीभाषी लोगों में अधिक नहीं रही।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी प्रदेशों में साक्षरता के प्रसार के कारण हिंदी में पढ़-लिख सकने वाले व्यक्ति बढ़ रहे हैं, किंतु इनमें उन वर्गों की संख्या अधिक है जिनकी क्रयशक्ति इतनी अच्छी नहीं है कि वे नियमित रूप से पत्र-पत्रिकाएं खरीदकर पढ़ सकें। दूसरी ओर, हर शहर व कस्बे में कुकुरमुत्तों की तरह पनप रहे अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की आर्थिक क्षमता उन्हें पत्र-पत्रिकाएं खरीदने का सामर्थ्य प्रदान करती है और उनकी

अभिरुचि, संस्कार तथा आवश्यकता उन्हें अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने को प्रेरित करती है। इस तरह कुल मिलाकर स्थिति यह बन रही है कि अंग्रेजी के वर्चस्व एवं उपयोगिता के कारण हिंदी के अखबार और पत्रिकाएं पढ़ने वालों की वृद्धि दर धीमी है। जिस दर से हिंदीभाषी क्षेत्रों में जनसंख्या और साक्षरता बढ़ रही है, उस दर से पत्र-पत्रिकाओं की संख्या व प्रसार-संख्या नहीं बढ़ रही है।

साक्षरता की कमी

अंग्रेजी की इस मार के अलावा इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा और साक्षरता की दृष्टि से हिंदीभाषी प्रदेश, जहां हिंदी अखबारों व पत्रिकाओं के अधिकतर पाठक उपलब्ध हो सकते हैं, अन्य राज्यों के मुकाबले काफी पिछड़े हुए हैं। विडंबना यह है कि हालांकि देश की एक तिहाई से अधिक आबादी चार बड़े हिंदीभाषी प्रदेशों— उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और राजस्थान में रहती है, किंतु वहां पत्र-पत्रिकाओं और उनकी प्रसार-संख्या के आंकड़े आबादी के अनुपात की दृष्टि से बहुत निराशाजनक हैं। इसका कारण यही है कि इन चारों राज्यों में साक्षरता की दर राष्ट्रीय औसत दर से काफी कम है। साक्षरता-दर की कमी के अलावा आर्थिक पिछड़ेपन का प्रकोप भी इन राज्यों में अधिक है जिससे हिंदी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं खरीदकर पढ़ने वाले लोगों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम है। करेले पर नीम चढ़ा यह कि हिंदीभाषी राज्यों में पुस्तकें व पत्रिकाएं खरीदने की आदत भी बहुत कम पाई जाती है। उपभोक्तावाद के बढ़ते आकर्षण एवं प्रभाव के कारण नई-नई भौतिक आवश्यकताएं सामने आ रही हैं जिससे प्राथमिकताओं की सूची में पत्र-पत्रिकाएं ऊपर नहीं आ पा रही हैं।

टेलीविजन का प्रभाव

जिस दौर में रेडियो का प्रसार हुआ उस दौर में हिंदी पत्रकारिता का भी विकास हुआ। किंतु टेलीविजन के विस्तार एवं प्रसार से हिंदी पत्रकारिता को प्रोत्साहन मिलने की बजाय पराभव का मुंह देखना पड़ा। उदारीकरण की नीतियां लागू होने के बाद तरह-तरह के देशी-विदेशी उपग्रह चैनल अस्तित्व में आ जाने से लोगों की पढ़ने की आदत पर बहुत हद तक असर पड़ा। टेलीविजन चैनल 24 घंटे प्रसारण करते हैं। दृश्य माध्यम निश्चय ही पठित माध्यम से अधिक आकर्षक तथा प्रभावकारी होता है। वह लोगों, विशेषकर युवा वर्ग को, बांधे रखता है। इसके अलावा विभिन्न चैनलों में व्यावसायिक होड़ के फलस्वरूप हलके-फुलके तथा

मनोरंजक कार्यक्रम दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जिससे मनोरंजन के माध्यम के रूप में पत्र-पत्रिकाओं की महत्ता कम होती जा रही है। अब तो फिल्मी पत्रिकाओं का स्थान भी टेलीविजन कार्यक्रमों ने ले लिया है जिनमें वह सब मसालेदार सामग्री परदे पर दिखाई जाती है जो पहले चमकदार पत्रिकाओं में छपती थी। जब हिंदी की सबसे हलका मनोरंजन देने वाली फिल्मी पत्रिकाएं भी टेलीविजन के प्रभाव से अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं तो गंभीर पत्रिकाओं की क्या बिसात हो सकती है? टेलीविजन का असर पत्र-पत्रिकाओं की सामग्री और स्वरूप पर भी साफ दिखाई देने लगा है।

जहां तक समाचारों का संबंध है, कुछ वर्ष पहले तक उस पर सरकारी दूरदर्शन का एकाधिकार था और दूरदर्शन के समाचार बुलेटिन सरकारी नियंत्रण के कारण बंधे-बंधाए तथा एक ही ढर्रे के होते थे। किंतु अब लगभग सभी प्रमुख चैनलों ने हिंदी समाचार बुलेटिन प्रसारित करने शुरू कर दिए हैं जो न केवल खुलापन और ताजगी लिए हुए हैं, बल्कि उन्हें अत्यंत रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है और यथासंभव मसालेदार बनाने की कोशिश की जाती है। दूरदर्शन के समाचार बुलेटिन समाचार-पत्रों की तुलना में काफी संयत और दबे हुए होते थे, जबकि निजी चैनलों के समाचार बुलेटिन अखबारों की भांति मनोरंजक, मसालेदार, सनसनीखेज ओर सूचनापरक होते हैं। सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के कारण वे दूरदर्शन के समाचारों की तुलना में अधिक सहज, विश्वसनीय एवं प्रभावकारी हैं। यों तो टेलीविजन के समाचार कार्यक्रम भी प्रसारण पत्रकारिता के अंग हैं, जो समग्र पत्रकारिता का ही अवयव है। परंतु टेलीविजन के समाचार बुलेटिन हों या मनोरंजक कार्यक्रम, वे मुख्यतया हिंदी में ही प्रसारित हो रहे हैं जिससे हिंदी पत्रकारिता को कड़े मुकाबले का सामना करना पड़ रहा है। इस प्रकार एक ओर टेलीविजन लोगों का समय लेकर पठन-पाठन की प्रवृत्ति पर कुठाराघात कर रहा है और दूसरी ओर, समाचारों तथा विचारों के रोचक प्रसारण से समाचार के स्तर पर अखबारों को चुनौती दे रहा है। मजेदार बात यह है कि टेलीविजन पर समाचार कार्यक्रमों में मुद्रित माध्यमों के पत्रकार भी शामिल होते हैं। मुद्रित पत्रकारिता और प्रसारण पत्रकारिता का आदान-प्रदान बढ़ रहा है, किंतु कुल मिलाकर इससे प्रसारण पत्रकारिता को शक्ति मिल रही है और मुद्रित पत्रकारिता शिथिल हो रही है।

यदि मुद्रित पत्रकारिता में विदेशी कंपनियों के प्रवेश की अनुमति दे दी गई, जिसके लिए दबाव बराबर बढ़ता जा रहा है, तो यह भारतीय, विशेषकर हिंदी

पत्रकारिता का गला घोंटने की दिशा में एक और खतरनाक कदम होगा।

भाषा की शिथिलता

हिंदी पत्रकारिता के लिए ढांचागत चुनौतियों के साथ-साथ स्वयं हिंदी भाषा का स्वरूप भी एक चुनौती बनता जा रहा है। दुर्भाग्य से हिंदी पत्रकारिता की भाषा का कोई मानक स्वरूप एवं स्तर आज तक विकसित नहीं हो पाया है। क्षेत्रीय अखबारों की भाषा पर क्षेत्रीय प्रभाव दिखाई दे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, किंतु भाषा में औपचारिकता-सी झलकती है। लगता नहीं कि यह भाषा उन लोगों के निकट की है जिनके लिए अखबार निकाले जाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हिंदी पत्र-पत्रिकाएं कम पढ़े-लिखे लोगों के साथ-साथ शिक्षित वर्ग को भी ध्यान में रखकर प्रकाशित की जाती हैं। भाषा के औपचारिक होने का एक अन्य कारण यह है कि अधिकांश समाचार एवं सूचनाएं मूल रूप से अंग्रेजी में प्राप्त होती हैं और अनुवाद की विवशता भाषा में कृत्रिमता और औपचारिकता ला देती है। पत्रिकाओं की भाषा इस दोष से कम पीड़ित है क्योंकि उनमें स्वतंत्र रूप से मूल हिंदी में लिखा जाता है। अनुवाद का प्रभाव इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि लेखों व अग्रलेखों की भाषा समाचारों की भाषा की तुलना में अधिक सहज, सरल और स्वाभाविक होती है। समाचार प्रेषित करने वाली संवाद एजेंसियां भी मूल अंग्रेजी अथवा अनूदित हिंदी का आश्रय लेती हैं।

जले पर नमक छिड़कने जैसी बात यह हो रही है कि हिंदी में अंग्रेजी शब्दों और पदों का प्रयोग निरंतर बढ़ रहा है। पब्लिक स्कूलों तथा अंग्रेजी माध्यम से पढ़ी पीढ़ी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखने के जिस तथ्य का ऊपर उल्लेख किया गया है वह पत्रकारों को अपनी भाषा में और शिथिलता लाने पर मजबूर कर रहा है। नए अंग्रेजी तकनीकी शब्दों के लिए हिंदी पर्यायवाची शब्द ढूंढ़ने या गढ़ने का प्रयास करने का चलन अब समाप्त होता जा रहा है। नया फैशन यही है कि इन शब्दों को ज्यों का त्यों प्रयोग किया जाए। अदालत और न्यायालय की बजाए कोर्ट, संसद को पार्लियामेंट, न्यायाधीश को जज, बैठक को मीटिंग, विधानसभा को एसेंबली, गोलीबारी को फायरिंग, सेना को आर्मी, पुस्तकालय को लायब्रेरी लिखने जैसे असंख्य सुविधाजनक प्रयोग हमारी बोलचाल की भांति पत्र-पत्रिकाओं में भी धड़ल्ले से किए जाने लगे हैं। अन्य भाषाओं से शब्द लेना कोई अस्वस्थ परंपरा नहीं है लेकिन जो शब्द हमारे पास पहले से हैं और आम लोगों द्वारा बोले व लिखे जा रहे हैं, उनके अंग्रेजी पर्याय अपनाना हमारी भाषागत दुर्बलता

एवं अक्षमता का लक्षण है। पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापनों में तो अंग्रेजी का यह आक्रमण एकदम उग्र रूप धारण कर चुका है।

टेलीविजन समाचारों, विशेषकर निजी चैनलों के समाचारों की भाषा लगता है, घुटने ही टेक चुकी है। इन समाचार कार्यक्रमों में अंग्रेजी के न केवल शब्दों बल्कि विशेषणों, क्रियाओं और वाक्यों तक का धड़ल्ले से प्रयोग होने लगा है। पत्रकारिता की भाषा पर अंग्रेजी का यह प्रहार कितना जोरदार है इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि हिंदी साहित्य एवं पत्रकारिता में प्रसिद्धि पा चुके लोग भी टेलीविजन समाचारों का संपादन अथवा वाचन करते हैं तो उनकी भाषा अंग्रेजी के रंग में रंगी होती है। वे मुख्यमंत्री को चीफ मिनिस्टर और विपक्ष के नेता को अपोजीशन लीडर कहना अधिक सुविधाजनक एवं प्रभावशाली मानते हैं। शतुरमुर्ग की भांति अपने अंग समेटने की यह प्रवृत्ति जारी रही तो आने वाली पीढ़ियां, जो साहित्य से कट जाने के कारण केवल टेलीविजन को ही सूचना तथा संवेदनशील अनुभूति का एकमात्र माध्यम मानने वाली हैं, अंग्रेजी शब्दों से रहित हिंदी को कृत्रिम मानने लगेंगी। यही नहीं, भाषा में शुद्धता-अशुद्धता का बोध और व्याकरण का संस्कार भी समाप्त होता जा रहा है। एक समय था जब आकाशवाणी और समाचार-पत्रों को ही हिंदी ज्ञान का आधार माना जाता था। किंतु अब स्वयं पत्रकारिता ही भाषा की शिथिलता और अंग्रेजी के आतंक का शिकार हो चुकी है।

सौभाग्य से अभी पानी सिर से ऊपर नहीं गया है। अनेक क्षेत्रीय समाचार-पत्र तथा कुछ पत्रिकाएं स्तरीय हिंदी पत्रकारिता की ध्वजा उठाए हुए हैं। बीच में कुछ बड़ी वाणिज्यिक कंपनियां हिंदी पत्रकारिता को कंधा देने आई थीं, किंतु धीरे-धीरे वे अपनी गुफाओं में लौट गईं। इसके बावजूद कई नए समाचार-पत्र उभर रहे हैं। इनमें से अधिकतर पत्र विशुद्ध व्यापारिक दृष्टिकोण से निकल रहे हैं। किंतु हिंदी पाठकों का घटता हुआ दायरा और भाषा की बढ़ती हुई शिथिलता ऐसी गंभीर समस्याएं हैं जिन पर तत्काल विचार करना आवश्यक है, क्योंकि ये मुद्दे हिंदी पत्रकारिता के अस्तित्व से जुड़े हैं।

टेलीविजन का विस्तार और प्रभाव

महाभारत के इस आख्यान को यथार्थ मानना पहले कठिन लगता था कि संजय कौरव-पांडव युद्ध का आंखोंदेखा हाल नेत्रहीन धृतराष्ट्र को सुनाया करते थे। किंतु जब जून 1925 में अमरीका में पहली बार अपना करिश्मा दिखाने के बाद यूरोप से होता हुआ टेलीविजन 15 सितंबर 1959 को भारत में अवतरित हुआ तो यहां के लोगों को महाभारत का आख्यान यथार्थ लगने लगा। भारत में जनसंचार माध्यम के रूप में टेलीविजन का शुभारंभ दिल्ली में बहुत सीमित आधार पर हुआ। लंबे समय तक यह आकाशवाणी के एक नगण्य तथा महत्त्वहीन हिस्से के रूप में काम करता रहा। उस समय इसकी महत्त्वहीनता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि 13 वर्ष तक भारत सरकार टेलीविजन के सामर्थ्य तथा प्रभावक्षमता से अनभिज्ञ रही और इसके विस्तार की दिशा में कुछ भी नहीं किया गया, जबकि उसी दौरान आकाशवाणी की पहुंच लगभग 80 प्रतिशत आबादी और 75 प्रतिशत क्षेत्र तक पहुंच गई। 1959 में टेलीविजन के दिल्ली केंद्र की स्थापना के बाद अक्तूबर 1972 में इसका दूसरा केंद्र मुंबई में खोला गया। 1972 के बाद ही यह करिश्माई माध्यम प्रगति की सीढ़ियां चढ़ने लगा। 1976 में इसे स्वतंत्र नाम 'दूरदर्शन' मिला। नामकरण के बाद इसकी चमक, आकर्षण, महत्त्व तथा प्रभाव में वृद्धि का जो दौर शुरू हुआ वह अभी तक थमा नहीं है।

शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों तक पहुंच होने और मनोरंजन तथा प्रभाव की असीम क्षमता के कारण दूरदर्शन की विकास-यात्रा बहुत गतिशील रही। वैसे भारत में टेलीविजन को वास्तविक विस्तार 1982 में मिला जब एशियाई खेलों के प्रसारण के बहाने इसके राष्ट्रीय चैनल और रंगीन प्रसारण का श्रीगणेश हुआ। बीच में तो ऐसा दौर भी आया जब प्रतिदिन एक टीवी ट्रांसमीटर का उद्घाटन होता रहा। 1984 में एक वैकल्पिक मेट्रो चैनल डीडी-2 अस्तित्व में आया जो महानगरों के लिए है। 1995 में अंतरराष्ट्रीय चैनल तथा उसके बाद क्षेत्रीय भाषाओं के 11 चैनल प्रारंभ हुए। इसी तरह समाचारों तथा खेलकूद के कार्यक्रमों के लिए अलग से क्रमशः डीडी-न्यूज तथा डीडी-स्पोर्ट्स चैनल शुरू किए गए। 26 जनवरी

2002 को 'डीडी-न्यूज' के स्थान पर 'डीडी-भारती' चैनल शुरू किया गया। अब दूरदर्शन के 1130 ट्रांसमीटरों के जरिये देश की लगभग 89 प्रतिशत आबादी राष्ट्रीय चैनल के कार्यक्रम देख सकते हैं। इस प्रकार दूरदर्शन ने सरकार के नियंत्रण में रहते हुए भी बड़ी तेजी से अपने आकार, टेक्नोलॉजी तथा कार्यक्रमों का विस्तार किया।

1991 में भारत में उपग्रह चैनलों के जरिये केबल टीवी का आगमन हुआ। इसके साथ ही हमारे यहां टेलीविजन क्रांति की शुरुआत हो गई। अमेरिकी चैनल सीएनएन ने खाड़ी युद्ध के दृश्य छोटे परदे पर साक्षात दिखाकर केबल टीवी का जादू भारतवासियों पर ऐसा चढ़ाया कि धीरे-धीरे महानगरों से लेकर छोटे-छोटे कस्बों तक में केबल टीवी का जाल फैल गया। विदेशी मीडिया का धड़ल्ले से भारत में प्रवेश होने से आए दिन न केवल नए-नए चैनल खुलने लगे, बल्कि कार्यक्रमों में भी विविधता तथा नयापन आने लगा। दो-तीन वर्ष बाद इन चैनलों ने समाचार प्रसारित करना शुरू कर दिया। देखते-देखते हिंदी तथा भारतीय भाषाओं में भी समाचार प्रसारित होने लगे। इस बीच 1997 में दूरदर्शन और आकाशवाणी को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने के लिए प्रसार भारती निगम का गठन किया गया। इससे दूरदर्शन के कार्यक्रमों के ढर्रे में भी थोड़ा बदलाव आया। लेकिन जिस भावना और उद्देश्य से प्रसार भारती निगम बनाया गया, उसे पूरी तरह लागू नहीं किया गया और दूरदर्शन अपने कार्यक्रमों की गुणवत्ता और विज्ञापनों से आय के मामले में अन्य उपग्रह चैनलों के मुकाबले पिछड़ने लगा।

यों तो टेलीविजन प्रारंभ से ही मुख्य रूप से मनोरंजन का माध्यम रहा है, इसलिए इसे 'ईडियट बॉक्स' या 'बुद्धू बक्सा' कहा जाता है। किंतु दूरदर्शन क्योंकि सरकारी माध्यम था, अतः उस पर कुछ अंकुश रहा। परंतु निजी चैनलों के सक्रिय होने के उपरांत बेलगाम घोड़े की तरह टेलीविजन ने सेक्स और हिंसा के तांडव से भारतीय मानसिकता और सोच को बड़ी तेजी से प्रभावित करना शुरू कर दिया। विभिन्न चैनलों में हलके से हलका मनोरंजन देने की होड़ लग जाने से नई पीढ़ी इस सांस्कृतिक प्रदूषण का सबसे अधिक शिकार हो रही है।

इसका एक और दुष्परिणाम उपभोक्तावाद के संवर्द्धन के रूप में सामने आ रहा है। विज्ञापनों की भरमार, विशेषकर निम्न-मध्य आय-वर्ग के लोगों के बीच बनावटी मांग पैदा करके उनमें अनावश्यक उत्पादों की भूख पैदा कर रही है। विज्ञापन समाचार-पत्रों तथा रेडियो से भी प्रकाशित/प्रसारित होते हैं, किंतु टीवी विज्ञापनों का असर इतना जल्दी और जोरदार होता है कि उससे प्रभावित लोग

ब्रांड-विशेष का माल ही खरीदने का संकल्प कर बैठते हैं।

इन विज्ञापनों तथा कुछ अन्य कार्यक्रमों में नारी की छवि को अश्लील और कुत्सित रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ चैनलों पर फैशन शो और संगीत कार्यक्रमों की आड़ में निरे अश्लील तथा कामुक दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। विदेशी, विशेषकर अमेरिकी फिल्में धड़ल्ले से दिखाई जाती हैं, जिनमें भारतीय मर्यादाओं और मूल्यों के विपरीत वातावरण का चित्रण होता है। इन कार्यक्रमों का भारतीय सोच, आचरण, रहन-सहन और संस्कृति पर कुप्रभाव पड़ रहा है।

इन चैनलों से केवल हानि हुई हो, ऐसी बात नहीं है। इनसे समाचारों में खुलापन भी आया क्योंकि दूरदर्शन के समाचारों में सरकारी पक्ष को अधिक महत्त्व दिया जाता है। दर्शकों को सभी पक्षों के विचार जानने का मौका मिलने लगा है। अब दर्शक के पास अपनी पसंद के कार्यक्रम देखने का विकल्प है। वह रिमोट से तत्काल चैनल बदलकर अपनी पसंद के समाचार या अन्य कार्यक्रम देख सकता है। निजी चैनलों के प्रयासों से समाचार प्रसारण का तकनीकी पक्ष बहुत उन्नत हो गया है। कंप्यूटर और इंटरनेट के प्रयोग से समाचार तथा अन्य कार्यक्रम अत्यंत समृद्ध, ज्ञानवर्धक एवं रोचक बन गए हैं। टेलीविजन प्रसारण, विशेषकर दूरदर्शन का समाज का विकास करने तथा रचनात्मक परिवर्तन लाने की दिशा में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

टेलीविजन ने सबसे बड़ा काम तो यह किया है कि गांवों तथा दूर-दराज के क्षेत्रों को, जो पहले अलग-थलग व उपेक्षित रहते थे, राष्ट्र की मुख्यधारा में जोड़ दिया है। यह संपर्क दोतरफा है। जहां एक ओर राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की प्रमुख गतिविधियों की जानकारी गांवों तक पहुंचती है, वहीं ग्रामीण जीवन के संबंध में विविध कार्यक्रमों, लोककलाओं, लोकनृत्यों, लोकसंगीत आदि की झलक पाकर दूसरे क्षेत्रों के लोगों में ग्रामीण जीवन के प्रति आत्मीयता एवं एकजुटता का भाव पनपता है। इस प्रक्रिया से राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के तंतु और पुष्ट होते हैं।

दूरदर्शन ने गांवों में साक्षरता तथा सामान्य चेतना के प्रसार में सचमुच उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। राष्ट्रीय प्रसारण के अलावा क्षेत्रीय केंद्रों से अनेक ऐसे कार्यक्रम दिखाए जाते हैं जिनमें अत्यंत रोचक ढंग से अक्षरज्ञान कराया जाता है। निर्धन, उपेक्षित तथा कमजोर वर्गों के अनेक लोग इन कार्यक्रमों से भाषा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इससे उनका अपना जीवन तो सुखी बनता ही है, वे अपने

बच्चों को भी स्कूल भेजने को प्रेरित होते हैं। इस प्रकार साक्षरता तथा शिक्षा के रथ को आगे बढ़ाने में मदद मिली है।

टेलीविजन ने ग्रामीण जीवन में व्याप्त अनेक बुराइयां, कुरीतियां तथा हानिकारक मान्यताएं दूर करने में भी सहयोग दिया है। उदाहरण के लिए, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य-रक्षा और स्वच्छता के बारे में प्रतिदिन रोचक कार्यक्रम तथा प्रेरक विज्ञापन प्रसारित किए जाते हैं जो लोगों को नई दृष्टि अपनाकर अपना जीवन सुखी बनाने की प्रेरणा देते हैं। छोटे परिवार का सिद्धांत जन-जन तक पहुंचाने में टेलीविजन के योगदान को सबने स्वीकार किया है। सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया है कि रेडियो व टेलीविजन के माध्यम से स्वास्थ्य, स्वच्छता, परिवार छोटा रखने, रोग-निरोधक टीके लगवाने, शिक्षा जैसे क्षेत्रों में लोगों, विशेषकर अनपढ़, निर्धन तथा पिछड़े वर्गों में जागृति लाने और कई तरह की भ्रांतियां तथा अंधविश्वासों का असर कम करने में मदद मिली है। इसके अलावा सरकार द्वारा ग्रामीण विकास तथा बेरोजगारी और गरीबी दूर करने के लिए जो कार्यक्रम चलाए जाते हैं, उनके बारे में दूरदर्शन आम लोगों को जागरूक बनाता है, जिससे लोग उन कार्यक्रमों से लाभ उठा सकते हैं। इन कार्यक्रमों की जानकारी के अभाव में बड़ी संख्या में उनके लाभों के हकदार इन लाभों से वंचित रह जाते हैं। भूमिहीन लोगों, मजदूरों, दिहाड़ी पर काम करने वालों/तथा नियमित श्रमिकों को न्यूनतम वेतन और नौकरी से संबंधित अन्य अधिकारों के प्रति सचेत करने में भी टी.वी. कार्यक्रमों का योगदान रहता है। स्त्रियों को उनके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों के बारे में परिचित व जागरूक बनाने में भी दूरदर्शन कार्यक्रमों का हाथ है।

टेलीविजन के माध्यम से न केवल अपने देश में, बल्कि विदेशों में हो रही प्रगति, विकास तथा अन्य गतिविधियों के संबंध में ग्रामीण लोगों को जानकारी मिलती है, जिससे वे समूचे संसार के साथ जुड़ते हैं और नई पीढ़ी में कुछ नया कर गुजरने का उत्साह पैदा होता है। लोकसभा और राज्यसभा की आंशिक कार्रवाई का भी सीधा प्रसारण होने लगा है। इससे गांव में जो लोग अखबार नहीं पढ़ सकते, वे अपनी आंखों से देख सकते हैं कि उनके प्रतिनिधि संसद में किस प्रकार उनके हितों के लिए आवाज उठा रहे हैं।

इस प्रकार निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जनजीवन में रचनात्मक परिवर्तन लाने में टीवी में अपार क्षमता है। परंतु दुर्भाग्यवश इस क्षमता का भरपूर उपयोग नहीं किया जा रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि ज्ञान-विज्ञान के

अधिकतर कार्यक्रम अंग्रेजी में होते हैं, जिन्हें सामान्य लोग समझ नहीं पाते। दूसरा यह कि हिंदी में ऐसे कार्यक्रम देर रात को प्रसारित होते हैं, जब देश की अधिकांश जनता, विशेषकर गांवों में रहने वाले लोग सो चुके होते हैं। व्यावसायिक लाभ के लिए प्राइम समय पर मनोरंजन कार्यक्रम ही दिखाए जाते हैं। एक और चिंताजनक पहलू यह है कि केबल चैनलों की पहुंच शहरों तक सीमित होने और उनके व्यावसायिक हितों की पूर्ति शहरी उपभोक्ताओं से होने की संभावनाओं के कारण इन चैनलों पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की सामग्री, वातावरण और संदेश केवल मध्यवर्ग तथा उच्चवर्ग के शहरी लोगों की रुचि और हितों के अनुरूप होते हैं। भारत की बहुसंख्यक ग्रामीण, निर्धन किसान व मजदूरों तथा छोटे-मोटे व्यवसाय से पेट पालने वाले परिवारों के लिए इन चैनलों के पास कुछ नहीं है।

समाचार किसी भी जनसंचार माध्यम का आधारभूत तत्त्व होता है। समाचार और विचार कार्यक्रमों के आधार पर ही किसी माध्यम की छवि बनती या बिगड़ती है। विभिन्न चैनलों से चौबीस घंटे समाचार शुरू हो जाने से टीवी समाचार प्रसारण का पूरा परिदृश्य बदल गया है। दूरदर्शन के समाचारों के स्वरूप, सामग्री और प्रस्तुतीकरण में भी पर्याप्त बदलाव आ गया है। फिर भी केबल चैनलों और दूरदर्शन से प्रसारित समाचारों में काफी अंतर है।

अकसर कहा जाता है कि दूरदर्शन के बुलेटिन 'बोर' होते हैं, जबकि केबल चैनलों के बुलेटिन रोचक और रोमांचक होते हैं। इस कथन की सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण तो यह है कि दूरदर्शन के बुलेटिनों और केबल चैनलों के समाचारों का स्वरूप अलग-अलग है। दूरदर्शन समाचार अब भी बुलेटिन के रूप में प्रसारित होते हैं जिनमें समाचारों का प्रस्तुतीकरण उन समाचार वाचकों द्वारा किया जाता है, जिनका समाचारों की रचना-प्रक्रिया में कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं होता। उनका काम केवल समाचार पढ़ना होता है। बहुत कम लोग जानते होंगे कि दूरदर्शन के अधिकतर समाचार वाचक और वाचिकाएं, अध्यापक, इंजीनियर, आशुलिपिक, प्रशासनिक अधिकारी आदि हैं या निजी व्यवसायों से संबंधित हैं। कुछ समाचार वाचिकाएं मात्र गृहिणियां हैं। स्वाभाविक है कि समाचार जगत या पत्रकारिता से प्रत्यक्ष जुड़ाव न होने के कारण उनसे पूरी अंतरंगता के साथ समाचार प्रस्तुतीकरण नहीं हो पाता है। दूसरी ओर, केबल चैनलों के समाचार प्रसारणों में 'एंकर पर्सन' या समाचार पेश करने वाले व्यक्ति का समाचार-प्रसारणों से प्रत्यक्ष रिश्ता होता है, इसीलिए निजी चैनलों पर समाचारों का वाचन नहीं, प्रस्तुतीकरण होता है।

उपग्रह चैनलों के समाचार कार्यक्रमों में लगभग सभी समाचार स्वयं संवाददाताओं द्वारा अपनी आवाज में यानी 'वायसओवर' रूप में दिए जाते हैं जबकि दूरदर्शन समाचारों में 'वायसओवर' समाचारों की मात्रा कम रहती है। दूरदर्शन प्रसारण का तकनीकी पक्ष भी कई कारणों से उतनी श्रेष्ठता के साथ सामने नहीं आ पाता, जितना दूसरे टीवी चैनलों के समाचारों में दिखाई देता है। यह अंतर सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के काम तथा गुणवत्ता में सामान्य तौर पर पाए जाने वाले अंतर के अनुरूप माना जा सकता है।

यह तो बात हुई बाहरी स्वरूप और तकनीकी पक्ष की। परंतु इन दोनों प्रकार के समाचार कार्यक्रमों में भिन्नता का वास्तविक आधार है विषय-सामग्री का चयन और प्रस्तुतीकरण। विषय के चयन एवं प्रस्तुतीकरण की समीक्षा से पहले दोनों तरह के संगठनों के कार्मिक पक्ष पर भी सरसरी निगाह डाल लेना आवश्यक है। दूरदर्शन तथा आकाशवाणी प्रसार भारती निगम के अंतर्गत आ जाने के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के विभाग के रूप में काम करते हैं। इनके संपादक और प्रस्तुति अधिकारी भी अन्य सरकारी कर्मचरियों की तरह सरकारी आचार संहिता से बंधे रहते हैं। इन दोनों प्रसारण संगठनों में संपादक और संवाददाता के रूप में काम करने वाले अधिकतर व्यक्ति केंद्रीय सूचना सेवा से संबद्ध हैं जो मंत्रालय की अन्य मीडिया इकाइयों—पत्र सूचना कार्यालय, प्रकाशन विभाग, विज्ञापन एवं दृश्य प्रचार निदेशालय, गवेषणा संदर्भ एवं प्रशिक्षण प्रभाग, क्षेत्र प्रचार निदेशालय आदि में भी नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार ये लोग पूर्णतया प्रसारण माध्यमों को समर्पित नहीं होते। एक तो सरकारी अधिकारी होने के कारण समाचारों के प्रसारण में उनसे पूर्ण निष्पक्षता की अपेक्षा नहीं की जा सकती, दूसरे विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण की मांग करने वाली अन्य सरकारी मीडिया इकाइयों में आते-जाते रहने के कारण प्रसारण पत्रकारिता के प्रति उनकी एकांत वचनबद्धता नहीं बनी रहती। इसके विपरीत केबल चैनलों के समाचार कार्यक्रमों के प्रस्तुतीकरण से जुड़े कर्मियों को प्रसारण माध्यम के अनुरूप योग्यता एवं क्षमता के आधार पर रखा जाता है और उनका काम ठीक न पाए जाने की स्थिति में उनको हटाया जा सकता है और बेहतर व्यक्तियों को रखा जा सकता है। परंतु दूरदर्शन और आकाशवाणी में यह इतना आसान नहीं है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दूरदर्शन और आकाशवाणी को कुछ निश्चित दिशा-निर्देशों के अनुरूप काम करना होता है जबकि गैर-सरकारी समाचार एवं संगठनों के लिए ऐसी कोई विशेष अनिवार्यता नहीं है। दोनों तरह के

बुलेटिनों की प्राथमिकताएं अलग-अलग हैं। मसलन गैर-विभागीय बुलेटिनों में सनसनीखेज और अपराध जगत के समाचारों को प्रमुखता दी जाती है, जबकि दूरदर्शन में यथासंभव इनकी अनदेखी की जाती है और उन्हें बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। जी. पार्थसारथी की अध्यक्षता में बनी सलाहकार समिति की सिफारिशों के आधार पर 1982 में प्रसारण माध्यमों के लिए समाचार नीति जारी की गई।

इस नीति की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि प्रसारण माध्यमों की क्षमता, स्वरूप और पहुंच तथा देश में लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रभावशाली संचालन की दृष्टि से आकाशवाणी तथा दूरदर्शन पर समाचार प्रसारणों में निष्पक्षता, सटीकता, व्यापकता और गरिमा बनाए रखने की जिम्मेदारी है। सेक्स और हिंसा जैसे तत्त्वों के संबंध में इन दिशा-निर्देशों में कहा गया है—'सेक्स और अपराध की कोई घटना जब तक व्यापक लोकहित में और परिवार के साथ बैठकर सुनने और देखने लायक न हो, बुलेटिनों में शामिल न की जाए।' दूरदर्शन के समाचार बुलेटिनों में ऐसे समाचारों को अत्यंत संक्षिप्त एवं मात्र तथ्यात्मक शैली में दिखाया जाता है, जबकि गैर-सरकारी बुलेटिनों में ठीक उलटा होता है। ऐसे समाचारों को न केवल प्रमुखता दी जाती है, बल्कि उन्हें मसालेदार बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। समाचार देने के साथ-साथ अपराधियों, वकीलों आदि से इंटरव्यू आदि भी प्रसारित किए जाते हैं। अत: इन कार्यक्रमों की रोचकता बढ़ना स्वाभाविक है। निजी चैनल व्यापारिक दृष्टि अपनाते हुए काम करते हैं, जबकि दूरदर्शन सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्वों से बंधे होने के साथ-साथ संसद, संविधान और सरकार के प्रति भी जवाबदेह है।

यही बात सांप्रदायिक, जातीय और भाषायी आधार पर होने वाले उपद्रवों, दंगों आदि की घटनाओं पर लागू होती है। दूरदर्शन से ऐसी घटनाओं को संयत ढंग से प्रसारित किया जाता है। इस संबंध में दिशा-निर्देशों में कहा गया है—'तथ्यों को दबाया या तोड़ा-मरोड़ा न जाए, परंतु उन्हें इस ढंग से प्रस्तुत किया जाए कि उससे राष्ट्रीय हित की रक्षा हो। ऐसे समाचार को नियमत: कम महत्त्व दिया जाए।' इसके साथ ही दंगों में मृतकों और घायलों की धार्मिक पहचान को गुप्त रखने तथा झगड़े से जुड़े उन्हीं पहलुओं को सामने लाने का सुझाव दिया गया है जिससे हालत सुलझाने में मदद मिले। जाहिर है, दूरदर्शन द्वारा रोमांचक समाचारों को तरजीह नहीं दी जाती, जबकि निजी समाचार प्रसारणों में अखबारों की तर्ज पर ऐसी घटनाओं के सभी पहलुओं की चर्चा की जा सकती है। बाबरी मस्जिद गिराए जाने

और गुजरात दंगों के समाचारों के मामले में अतिरिक्त सावधानी के कारण सरकारी प्रसारण माध्यमों की विश्वसनीयता तक दांव पर लग गई थी। कई बार सच्चाई की अभिव्यक्ति स्थगित करना ही लोकहित या राजहित में होता है।

राजनीतिक उठापटक, जोड़-तोड़ से सत्ता-परिवर्तन, चुनावों में जय-पराजय, मंत्रियों के इस्तीफे आदि घटनाक्रम में सब लोगों की रुचि रहती है और राजनीतिक खबरें सबसे अधिक दिलचस्पी के साथ देखी-सुनी जाती हैं। दूरदर्शन के समाचारों में भी राजनीतिक घटनाओं को पर्याप्त स्थान और महत्त्व दिया जाता है। युद्ध, मानवीय संकटों और प्राकृतिक आपदाओं में जान-माल की हानि के बाद राजनीतिक घटनाओं को ही स्थान दिया जाता है। गैर-सरकारी चैनलों द्वारा प्रसारित समाचार बुलेटिनों में भी राजनीतिक घटनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। किंतु यहां भी जितनी आजादी और छूट इन समाचार कार्यक्रमों को उपलब्ध है, उतनी आजादी दूरदर्शन के समाचार बुलेटिनों के हिस्से में नहीं है। दिशा-निर्देशों में राजनीतिक घटनाओं को निष्पक्षता और समाचार के महत्त्व के अनुसार उनके इस्तेमाल और सभी पक्षों और मतों को स्थान देने की बात कही गई है, किंतु राजनीतिक अटकलबाजियों और संभावित घटनाओं, पूर्वाभासों, भविष्यवाणियों तथा विश्लेषणात्मक समाचार देने की मनाही है। समाचार नीति के अनुच्छेद-5 के अनुसार—'प्रसारित समाचार सटीकता और जिम्मेदारी के उच्चतम मापदंड के अनुरूप होने चाहिए।' आकाशवाणी और दूरदर्शन उस प्रकार की अटकल वाले समाचार नहीं दे सकते जैसा कि कुछ पत्र-पत्रिकाओं में होता है। उन्हें घटनाओं की सच्चाई परखने के लिए अपने सूत्र विकसित करने चाहिए। परंतु उपग्रह चैनलों के समाचार बुलेटिनों में राजनीतिक घटनाओं का चयन व प्रस्तुतीकरण ठीक पत्र-पत्रिकाओं की तर्ज पर किया जाता है। उनके सामने सरकारी माध्यमों जैसी सटीकता और जिम्मेदारी की शर्त नहीं है। यही कारण है कि वे किसी घटना से संबंधित लोगों के विचारों को ज्यों का त्यों पेश कर देते हैं, जबकि सरकारी प्रसारण माध्यमों के समाचारों में घटनाओं का केवल तथ्यात्मक ब्यौरा रहता है। नाटकीयता और अटकलबाजी से रहित होने के कारण इनका जायका चटपटा नहीं होता और ये गैर-सरकारी बुलेटिनों की तुलना में नीरस, सरल और सपाट लगते हैं।

सरकारी और गैर-सरकारी समाचार कार्यक्रमों में एक और भी अंतर साफ झलकता है। सरकारी बुलेटिनों में प्रधानमंत्री और मंत्रियों के कथनों और कृत्यों को खूब स्थान मिलता है जबकि गैर-सरकारी बुलेटिनों में ऐसे समाचार न के

बराबर रहते हैं।

दोनों प्रकार के बुलेटिनों की विषय-सामग्री का विवेचन करते हुए यह नहीं भूलना चाहिए कि उपग्रह चैनलों के समाचार महानगरों में रह रहे पढ़े-लिखे और अपेक्षाकृत संपन्न वर्गों के लिए होते हैं, जबकि दूरदर्शन को देश के सुदूर क्षेत्रों में रहने वाले निर्धन और अनपढ़, उपेक्षित जनजातीय और गांवों-कस्बों में बसे शिक्षित-अशिक्षित सब तरह के लोगों के हितों, अपेक्षाओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होता है। इसके अलावा देश के पिछड़े और उपेक्षित क्षेत्रों की छोटी-छोटी घटनाओं को भी प्रमुखता दी जाती है, ताकि वहां के लोगों का देश की मुख्यधारा के साथ संपर्क बना रहे। अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, जनजातियों, विकलांगों आदि उपेक्षित वर्गों को महत्त्व देना भी सरकारी प्रसारण संगठनों की प्राथमिकताओं का अंग है।

जाहिर है कि केबल चैनलों के समाचार बुलेटिनों में थोड़ा खुलापन रहता है, क्योंकि वे जिम्मेदारियों और सरकारी नियंत्रण के बंधन से मुक्त हैं। दूसरी ओर, दूरदर्शन के समाचार नाटकीयता, रोमांचकता और चमक-दमक से रहित होते हैं, क्योंकि वे दायित्व के बोझ के कारण ऐसा करने के लिए विवश हैं। कुछ लोगों की इस राय में दम है कि विषय के स्तर पर बंधनों की सीमा में रहते हुए भी प्रस्तुतीकरण के स्तर पर दूरदर्शन के समाचार कार्यक्रमों में रोचकता और सरसता लाने की काफी संभावनाएं हैं। 'वायसओवर' समाचारों का अधिक से अधिक समावेश करके और तकनीकी स्तर को बेहतर बनाकर समाचार बुलेटिनों को अधिक प्रभावशाली तथा आकर्षक बनाया जा सकता है। दूरदर्शन ने इस दिशा में सीमित स्तर पर ही सही, प्रयास किए हैं। परंतु उसकी तुलना केबल चैनलों के समाचार कार्यक्रमों से करना अनुचित और अतर्कसंगत होगा।

यदि दूरदर्शन को और स्वायत्तता देकर उसके समाचार कार्यक्रमों में थोड़ा खुलापन लाया जाए और केबल चैनल अधिक संयम तथा जिम्मेदारी से काम करें तो दोनों के बीच का अंतर कम हो सकता है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल मुशर्रफ और प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की आगरा शिखर वार्ता के दौरान निजी चैनलों द्वारा की गई कवरेज की आलोचना हुई, क्योंकि उन्होंने समाचार देते हुए पाकिस्तानी राष्ट्रपति को इतना अधिक महत्त्व दे दिया कि वे यह भी भूल गए कि यह वही व्यक्ति है, जिसने भारत पर कारगिल युद्ध थोपा था। समाचार को तमाशा बना देने से न केवल समाचारों की गंभीरता और शालीनता को चोट लगती है, बल्कि राष्ट्रीय और मानवीय हितों पर भी कुठाराघात होता है।

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जनसंचार माध्यम के रूप में टेलीविजन भले ही पत्र-पत्रिकाओं तथा रेडियो से काफी बाद में आया, किंतु प्रभाव और व्यापकता में वह उनसे काफी आगे निकल गया है और भारतीय जनमत का अनिवार्य और अभिन्न अंग बनता जा रहा है। मनोरंजन हो चाहे सूचना एवं शिक्षा—सभी उद्देश्यों के लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। करगिल युद्ध, कंधार विमान अपहरण, आम चुनाव, गुजरात भूकंप, नेपाल नरेश तथा उनके परिवार की हत्या, आगरा शिखरवार्ता औरगुजरात में सांप्रदायिक हिंसा जैसी घटनाओं का व्यापक और विश्लेषणात्मक प्रस्तुतीकरण इस तथ्य को जोरदार ढंग से रेखांकित करता है कि टेलीविजन माध्यम हमारी भावनाओं, संवेदनाओं, चिंताओं तथा विकारों के संस्कार एवं अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त साधन बन चुका है। आवश्यकता इस बात की है कि इस साधन का उपयोग 'बुद्धू बक्से' के रूप में नहीं 'विवेकशील बक्से' के रूप में किया जाए।

रेडियो समाचार : कुछ रोमांचक अनुभव

''यह आकाशवाणी है। अब आप देवकी नंदन पांडे से समाचार सुनिए।'' रेडियो पर श्रोताओं के लिए खबरें सुनने का यह निमंत्रण वास्तव में समाचार प्रसारण की लंबी और जटिल यात्रा का अंतिम चरण है। श्रोताओं तक पहुंचने से पहले समाचारों को कई तरह की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। आकाशवाणी से प्रसारित कार्यक्रमों में संगीत के पश्चात सबसे अधिक समाचार ही सुने जाते हैं। समाचार बुलेटिन कहने को तो पांच, दस, पंद्रह, या तीस मिनट के ही होते हैं, किंतु इन्हें तैयार करने और प्रसारित करने में अनेक रेडियो कर्मियों का सामूहिक योगदान रहता है। समाचार कोई संगीत का रिकार्ड नहीं, जिसे बजाकर सीधे श्रोताओं तक पहुंचा दिया जाए। समाचार क्योंकि पल-पल में बदलते रहते हैं और नए से नए समाचार श्रोताओं तक पहुंचाना आकाशवाणी के समाचार सेवा प्रभाग का प्रमुख उद्देश्य रहता है, इसलिए संवाददाताओं, समाचार संपादकों, तकनीकी कर्मियों तथा समाचार वाचकों को अनेक बार तनाव, चुनौती तथा रोमांच के क्षणों से गुजरना पड़ता है।

प्रसार भारती निगम बनने के बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आकाशवाणी के समाचार तंत्र पर सरकारी नियंत्रण अभी कायम है। प्रसार भारती बनने से पहले तो आकाशवाणी पूर्णतया सरकारी विभाग के रूप में काम करता था। सरकारी नियंत्रण के कारण समाचारों के प्रसारण में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। फिर भी कभी-कभी ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जिसमें पूरे विभाग को या सरकार को ही शर्मिंदा होना पड़ता है। लोकनायक जयप्रकाश नारायण की मृत्यु का समाचार उनके जीवित रहते प्रसारित हो जाने की घटना इसी प्रकार की थी। यद्यपि आकाशवाणी ने यह समाचार लोकसभा में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई की घोषणा के आधार पर प्रसारित किया था, किंतु उससे समूचा राष्ट्र लज्जित हुआ। कुछ इसी प्रकार की स्थिति भूतपूर्व केंद्रीय मंत्री श्री जगजीवन राम के देहांत की गलत खबर के प्रसारण से पैदा हुई। प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी 4 जुलाई 1986 को मारिशस यात्रा पर रवाना होने वाले

थे। बड़े सवेरे हवाई अड्डे पर हमारे संवाददाता को एक उच्च अधिकारी ने बताया कि श्री जगजीवन राम का देहांत हो गया है। प्रधानमंत्री अपने प्रस्थान में देरी करके हवाई अड्डे से राम मनोहर लोहिया अस्पताल गए जहां श्री जगजीवन राम का इलाज चल रहा था। हमारे संवाददता ने समाचार प्रसारण का समय निकट होने के कारण तत्काल फोन पर समाचार कक्ष में सूचना दी और सवेरे 6.00 बजे के बुलेटिन में आकाशवाणी ने गहरे दु:ख के साथ श्री जगजीवन राम के निधन का समाचार प्रसारित कर दिया। तभी पता चला कि यह खबर गलत है और 7.00 बजे वाले अगले बुलेटिन में इसका खंडन प्रसारित करना पड़ा।

कई बार ऐसा होता है कि समाचार जल्दी से जल्दी लोगों तक पहुंचाने की आपाधापी में सूचनाएं गलत अर्थ में प्रसारित हो जाती हैं। 28 फरवरी 1989 को बजट के संबंध में विशेष बुलेटिन से पहले कार्यक्रमों के प्रसारण को रोककर बीच-बीच में बजट के बारे में महत्त्वपूर्ण समाचार प्रसारित करने की व्यवस्था की गई। इसमें आयकर की दर घटाने के संबंध में वित्त मंत्री की घोषणा गलत अर्थ में प्रसारित हो गई। वास्तव में वित्त मंत्री ने घोषणा की थी कि 18000 से 25000 रुपये तक के आय खंड पर आयकर की दर 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत की जा रही है। किंतु हमारे संवाददाता ने जल्दबाजी में यह समझा कि आयकर में छूट की 18000 रुपये वार्षिक आय की वर्तमान सीमा को बढ़ाकर 25000 रुपये कर दिया गया है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि छूट की सीमा बढ़ाने की चर्चा काफी पहले से ही चल रही थी। बाद में विशेष बुलेटिन में इस गलती को ठीक कर दिया गया और पिछली त्रुटि के लिए क्षमा-याचना की गई।

समाचार बुलेटिन के अंतिम क्षणों में तनाव की पीड़ा को वही समझ सकता है जो इस अनुभव से गुजरा हो। समाचारों तथा उन्हें प्रसारित करने के संबंध में निर्णय किस प्रकार बदलते हैं, इसकी एक मिसाल 14 जुलाई 1986 को देखने को मिली। रात 8.45 बजे का हिंदी बुलेटिन प्रसारित हो रहा था। लगभग 8.50 पर सूचना मिली कि पंजाब और हरियाणा के सीमा विवाद के बारे में गठित देसाई आयोग का कार्यकाल 15 जुलाई से आगे बढ़ाने संबंधी समाचार तैयार हो रहा है। यह निर्देश मिला कि समाचार तैयार होते ही इसे पढ़वा दिया जाए और मुख्य समाचार रिपीट करने पर इसे लीड हेडलाइन के रूप में पढ़ा जाए। समाचार का अनुवाद हो गया, किंतु तभी बताया गया कि समाचार की पुष्टि नहीं हुई, इसलिए अभी इसे पढ़ा न जाए। तदनुसार हिंदी बुलेटिन में वह समाचार प्रसारित नहीं किया गया। इस बीच पुष्टि हो जाने पर उसे हिंदी के तत्काल बाद प्रसारित होने वाले

अंग्रेजी बुलेटिन में अंतिम समाचार के रूप में प्रसारित किया गया।

हिंदी बुलेटिनों के संबंध में स्थिति और भी चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि मुख्य हिंदी बुलेटिन अंग्रेजी बुलेटिन से पहले प्रसारित होते हैं, जबकि अधिकतर मूल समाचार अंग्रेजी में ही तैयार होते हैं। इसलिए अनुवाद बहुत जल्दी करना पड़ता है। जिस दिन पाकिस्तान में जनरल जिया उल हक ने सैनिक क्रांति करके सत्ता संभाली और देश में मार्शल लॉ लागू किया, उस दिन सवेरे 8.00 बजे का बुलेटिन प्रसारित होने से दो तीन मिनट पहले फैसला हुआ कि तख्ता पलटने का समाचार 8.00 बजे के बुलेटिन की लीड यानी प्रथम समाचार होगा। हेडलाइन उसी प्रकार लिख ली गई, किंतु मूल समाचार हाथ में नहीं आया। हेडलाइन के रूप में प्रसारित करके वह समाचार न देना कितना बेतुका हो सकता था, यह समझना कठिन नहीं है। उधर हेडलाइन पढ़ी जा रही थी और इधर समाचार का हिंदी अनुवाद हो रहा था। आखिर समय के विरुद्ध इस युद्ध में विजय हुई और चार पंक्तियों का समाचार सही समय पर प्रसारित हो गया।

कई बार तो ऐसा भी हुआ कि समाचार वाचक ने समाचार सीधा अंग्रेजी से स्वयं अनुवाद करके प्रसारित कर दिया। एक दिन सवेरे 6.00 बजे का बुलेटिन प्रारंभ होने ही वाला था कि स्टूडियो में ही नया लीड समाचार मिला। संपादक के पास अनुवाद करने का समय नहीं था। संपादक को मालूम था कि समाचार वाचक में सीधे अंग्रेजी कापी से हिंदी में पढ़ सकने की क्षमता है। उसने इशारे से समाचार वाचक की इच्छा जानने की कोशिश की। सकारात्मक प्रतिक्रिया मिलते ही अंग्रेजी प्रति सामने रख दी गई। समाचार वाचक ने कापी पर एक नजर डाली और उसका अनुवाद स्वयं करते हुए समाचार पढ़ दिया। चुनाव बुलेटिन या खेल मैचों की ताजा स्थिति देने के लिए अकसर ऐसा होता है, जब समाचार वाचक स्वयं अनुवाद करके पढ़ देता है। एक बार क्रिकेट के मैच का ताजा स्कोर एक संपादक ने हथेली पर लिखकर अपना हाथ समाचार वाचक के आगे कर दिया और श्रोताओं तक ताजा स्कोर पहुंच गया।

प्रसारण व्यवसाय में समय सबसे बड़ी चुनौती रहती है। घड़ी की सूइयां प्रसारण कर्मियों की क्षमता को चुनौती देती रहती हैं। इसलिए कभी-कभी कोई चूक हो जाने पर चतुराई और सूझ-बूझ का सहारा लेना पड़ता है जिससे निर्धारित समय पर कोई प्रसारण मिस न हो जाए। उन दिनों हर रविवार को साप्ताहिक लोकरुचि समाचार बुलेटिन प्रसारित हुआ करता था। किंतु यह बुलेटिन एक दिन पूर्व यानी शनिवार को ही तैयार करके फाइल में लगा दिया जाता था। एक बार

चपरासी ने भ्रमवश बुलेटिन को निर्धारित फाइल की बजाय किसी और फाइल में लगा दिया। अगले दिन निर्धारित समय से पहले जब बुलेटिन की ढूंढ़ हुई तो वह कहीं नहीं मिला। अंततः कुछ दिन पहले प्रसारित हो चुका बुलेटिन निकालकर उसे दुबारा पढ़ दिया गया।

लिखने या टाइप करने में जो छोटी-मोटी त्रुटियां हो जाती हैं, श्रोताओं के लिए वे गलतियां बहुत बड़ी बन जाती हैं। एक बार स्टेनोग्राफर को 'आठ' बोला गया किंतु 'साठ' टाइप हो गया और प्रूफरीडिंग में वह गलती पकड़ में नहीं आई। इसी तरह एक बार 'कई महिलाएं' के स्थान पर 'नई महिलाएं' टाइप हो गया और उसी रूप में प्रसारित हुआ।

एक दिन सवेरे 6.00 बजे के बुलेटिन में प्रधानमंत्री राजीव गांधी की पत्नी के लिए सोनिया के स्थान पर मेनका गांधी लिख दिया गया। पढ़ने के बाद हालांकि समाचार वाचक ने तुरंत क्षमा मांगकर सही नाम बोल दिया, किंतु इस गलती पर बहुत हो-हल्ला मचा और संबंधित लोगों की खबर भी ली गई।

कई बार अत्यंत रोचक किंतु आश्चर्यजनक अनुभव भी सामने आते हैं। तीन मई 1987 को रात 8.45 बजे के बुलेटिन में लीड समाचार था—'राष्ट्रपति ने इस बात का खंडन किया है कि प्रधानमंत्री को बरखास्त करने का उनका कोई इरादा है।' परंतु समाचार वाचक ने अपनी ओर से भाषा को 'ठीक' करने के उद्देश्य से पढ़ा कि 'इरादा नहीं है।' इससे अर्थ एकदम उलटा हो गया। समाचार प्रसारित होते ही कई लोगों के फोन न्यूज रूम में आने लगे। समाचार वाचक को फेडर आफ करके समझाया गया कि मुख्य समाचार रिपीट करते हुए 'इरादा नहीं है' की बजाय 'इरादा है' पढ़ना है। कापी में 'इरादा है' शब्दों को रेखांकित भी कर दिया गया। किंतु न जाने समाचार वाचक के मस्तिष्क में उस समय क्या भ्रम व्याप्त था कि रिपीट करते हुए भी 'नहीं' शब्द उनके मुख से निकल गया। उन्हें वहीं रोककर तीसरी बार वह हेडलाइन सही रूप से पढ़ाई गई।

समाचार वाचन में कभी-कभी बड़ी चुनौतीपूर्ण तथा परेशानी में डालने वाली स्थितियां पैदा हो जाती हैं। किसी समाचार वाचक के अचानक छुट्टी ले लेने या अपरिहार्य कारणों से उनके समय पर न पहुंचने पर संपादकों या एनाउंसरों से ही समाचार पढ़ाने पड़ते हैं। किंतु एक बार ऐसा प्रसंग आया कि समाचार वाचक के उपस्थित रहते हुए भी संपादक के हाथ-पांव ठंडे पड़ गए। 13 जनवरी 1987 को वरिष्ठ समाचार वाचक अशोक वाजपेयी की ड्यूटी रात 8.45 बजे का बुलेटिन पढ़ने पर थी। उन्होंने पूरा बुलेटिन रिहर्स किया। वे स्टूडियो जाते हुए एक

संसद सदस्य के नाम के सही उच्चारण के बारे में परामर्श करने के लिए न्यूज रूम में चले गए। इधर 8.45 से तीस सेकंड ऊपर हो गए और अशोकजी स्टूडियो में पहुंचे नहीं। संपादक का तनाव चरम सीमा पर था। तभी एक और समाचार वाचक राजेंद्र चुघ एक आइटम लेकर अचानक स्टुडियो में आए और संपादक ने तत्काल उन्हें माइक के सामने बिठा दिया। हालांकि उन्होंने समाचार रिहर्स नहीं किए थे, किंतु वे स्वयं मंजे हुए समाचार वाचक हैं, इसलिए उन्होंने सफलतापूर्वक स्थिति संभाल ली। उनके बुलेटिन प्रारंभ कर देने के थोड़ी देर बाद मूल वाचक भागते-भागते आए। वास्तव में नाम का उच्चारण पूछने के प्रयास में उन्हें सही समय का ध्यान ही नहीं रहा था।

एक अन्य मौके पर भी ऐसी ही स्थिति आई, किंतु तब उसे संभालने वाला सही व्यक्ति नहीं मिल पाया। उस दिन निर्धारित समाचार वाचक रामानुजप्रसाद सिंह के बीमार हो जाने और उनके स्थान पर वैकल्पिक व्यवस्था न हो पाने के कारण शाम 6.05 बजे के बुलेटिन के लिए कोई समाचार वाचक उपलब्ध नहीं था। पांच-सात मिनट पहले इस ओर ध्यान गया और भाग-दौड़ शुरू हुई। अंततः एक कैजुअल समाचार वाचक से बुलेटिन पढ़वाना पड़ा, किंतु उसका वाचन घटिया स्तर का था, जिससे उसकी बहुत आलोचना हुई और अनेक शिकायती पत्र आए।

तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन के समय की एक घटना भी प्रसारण विधा से जुड़े रोमांच, चुनौती और तनाव की परिचायक है। सम्मेलन के समापन के दिन हिंदी के प्रतिष्ठित समालोचक और साहित्यकार डा. नामवरसिंह ने आकाशवाणी के 'सामयिकी' कार्यक्रम के लिए वार्ता लिखने का वादा किया था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत प्रतिदिन शाम 7.35 पर सामयिक विषयों पर 10 मिनट की वार्ता प्रसारित की जाती है। उसके लिए सम्मेलन स्थल पर ही उनसे आकाशवाणी चलकर वार्ता रिकार्ड कराने का अनुरोध किया गया, किंतु उन्होंने किसी अन्य कार्यक्रम में व्यस्तता बताकर अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। वहां उपलब्ध एक-दो और विद्वानों से अनुरोध किया गया किंतु वे इतने कम समय में वार्ता प्रसारित करने को तैयार नहीं हुए। उस दिन किसी प्रतिष्ठित साहित्यकार अथवा विद्वान की ही वार्ता प्रसारित करने की योजना थी। एक ओर, किसी योग्य वार्ताकार की तलाश जारी रही और दूसरी ओर, संवाददाता ने कार्यालय में फोन करके अपने वारिष्ठ संपादक से कह दिया कि वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में वे स्वयं वार्ता लिखना प्रारंभ कर दें। 7.35 प्रसारण का समय था और 6.45 बजे तक किसी से संपर्क

नहीं हो पाया था। तभी संवाददाता को फिजी के तत्कालीन राजदूत डा. बच्चू प्रसाद सिंह दिखाई दिए। उन्हें अपनी इच्छा और चिंतनीय स्थिति बताई गई। उन्होंने अनुरोध तत्काल स्वीकार कर लिया और 7.00 बजे तक आकाशवाणी पहुंच गए। उन्होंने बिना कहीं से पढ़े, सम्मेलन की उपलब्धियों के संबंध में वार्ता रिकार्ड करा दी, जिसे मामूली-से संपादन के पश्चात 7.35 पर प्रसारित किया गया।

इसी प्रकार दिसंबर 1989 में आम चुनावों के परिणामों की समीक्षा वार्ता के लिए प्रतिष्ठित संपादक कन्हैया लाल नंदन से अनुरोध किया गया। किंतु जब 15 मिनट पहले तक वह नहीं पधारे तो समाचार कक्ष ने वार्ता लिखना शुरू कर दिया। वार्ता लगभग तैयार थी कि नंदनजी भागते-भागते आ पहुंचे और विभागीय वार्ता को एक ओर फेंककर उन्हें स्टूडियो ले जाया गया। उन्होंने बिना पढ़े वार्ता प्रसारित की।

इस प्रकार समय के विरुद्ध लड़ाई में अनेक सुखद-दुःखद और रोमांचपूर्ण क्षण चाहे-अनचाहे आते रहते हैं, जो समाचार यात्रा को जीवंत और रोचक बनाए रखते हैं। एक बार तो श्रोताओं को समाचारों के साथ-साथ संगीत भी सुना दिया गया। यह संगीत किसी वाद्य यंत्र का नहीं, बल्कि समाचार वाचिका के हाथों की चूड़ियों की खनखनाहट का था।

हिंदी सिनेमा और राष्ट्रीय चेतना

सिनेमा, विशेषकर हिंदी सिनेमा भारत के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। फिल्मों, फिल्मी सितारों तथा उनसे जुड़े अन्य पक्षों की चर्चा राजनीति, महंगाई, भ्रष्टाचार आदि जैसे आम विषयों की भांति हर वर्ग के लोगों की आपसी बातचीत का हिस्सा बन गई है। यही नहीं, हमारे सार्वजनिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयोजन भी फिल्मों के गीत-संगीत के बिना फीके रह जाते हैं। स्कूलों में नित्यप्रति होने वाली प्रार्थनाएं, शादी-ब्याह पर गाए जाने वाले गीत, मंदिरों एवं रामलीला जैसे धार्मिक कार्यक्रमों में उच्चरित होने वाले भजन-कीर्तन, एकांत में गुनगुनाए जाने वाले गाने, नौजवानों की मौजमस्ती के मौकों पर बजने वाला संगीत और चुनावों तथा राजनीतिक दलों के सम्मेलनों में बजने वाले अधिकतर गीत फिल्मों से ही लिए जाते हैं। इस प्रकार फिल्में केवल मनोरंजन ही नहीं करतीं, बल्कि हमारी भावनाओं, सुख-दुःख की अनुभूतियों, सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक आस्था और देशभक्ति का भाव जागृत करने में भी उल्लेखनीय भूमिका निभाती हैं।

सामान्य भारतवासी के जीवन में हिंदी फिल्मों के इस गहरे जुड़ाव का ही परिणाम है कि फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में पिछले अनेक वर्षों से भारत का प्रथम स्थान बना हुआ है। भारत के संदर्भ में यह तथ्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आजादी मिलने के दो दशक बाद तक भी शरीफ घरों में बच्चों के लिए फिल्में देखने की मनाही के माहौल से निकलकर सिनेमा आज आम भारतीय के ड्राइंगरूम और बेडरूम तक पहुंच चुका है। सच तो यह है कि फिल्में व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन को काफी हद तक प्रभावित कर रही हैं। हमारे विचार और जीवन-मूल्य भी फिल्मों के प्रभाव से नहीं बच पाए हैं। परंतु भारतीय, विशेषकर हिंदी फिल्मों के योगदान के इस पहलू पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है कि इन्होंने देश में राष्ट्रीय चेतना के विकास को भी प्रोत्साहन दिया है।

भारत में फिल्मों के निर्माण के प्रारंभिक दौर में मुख्य रूप से पौराणिक विषयों पर ही अधिक फिल्में बनीं, क्योंकि उस दौरान विदेशी सरकार की ओर

से कड़ी सेंसरशिप लागू होने के कारण विशुद्ध और प्रत्यक्ष देशभक्ति का प्रदर्शन असंभव था। पहले पौराणिक तथा बाद में ऐतिहासिक विषयों पर फिल्में बनाकर कुछ फिल्मकारों ने देश की जनता में आत्मगौरव, स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय भावना पैदा करने का प्रयास किया। उस समय की कुछ फिल्मों में गीतों के माध्यम से भी देशभक्ति की भावना जागृत की गई। उदाहरण के लिए 1940 के दशक में 'बंधन' फिल्म में 'चल चल रे नौजवान चल' तथा 'शहीद' फिल्म में 'वतन की राह में वतन के नौजवान शहीद हो' जैसे गाने शामिल करके राष्ट्रीय चेतना लाने की चेष्टा की गई। तभी आई सोहराब मोदी की अमर फिल्म 'सिकंदर' जिसमें पृथ्वीराज कपूर ने नायक की भूमिका निभाई। देशभक्ति से सराबोर इस फिल्म ने उस समय तूफान-सा मचा दिया था। इसके पश्चात हिंदी सिनेमा प्रौढ़ता की ओर बढ़ता गया तथा सामाजिक एवं रोमांटिक विषयों को लेकर अनेक महान तथा अविस्मरणीय फिल्मों का निर्माण होने लगा। परंतु देशभक्ति पर आधारित फिल्मों का जो सिलसिला 'सिकंदर' से शुरू हुआ था, वह आज तक जारी है।

देशभक्ति

कहते हैं कि व्यक्ति जन्म से देशभक्त होता है, किंतु इस भाव को निरंतर दिशा देने और पुष्ट करने की आवश्यकता रहती है, अन्यथा यह भाव संकुचित हो सकता है और राष्ट्र का स्थान क्षेत्र या प्रांत ले सकता है। साहित्य तथा अन्य कला-विधाओं की भांति फिल्में भी इस दिशा में सक्रिय रही हैं। हिंदी फिल्में विदेशों में बसे भारतीयों को अपने देश की याद दिलाने और उनके मन में भारत के प्रति प्रेम तथा भक्ति का भाव बनाए रखने का भी काम कर रही हैं। समय-समय पर ऐसी फिल्में बनती रही हैं जो देशवासियों के मन में भारत तथा भारतीय मूल्यों के प्रति लगाव तथा प्रेम जगाने और राष्ट्र के लिए त्याग एवं बलिदान की भावना जागृत करने में सफल रही हैं। 1950 के दशक में किशोरों के जीवन पर आधारित फिल्म 'जागृति' ने जहां भावात्मक स्तर पर दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया था, वहीं उसके लोकप्रिय गानों को सुनकर और गुनगुनाकर नई पीढ़ी देशभक्ति के सागर में आकंठ डूब गई। 'आओ बच्चो तुम्हें दिखाएं झांकी हिंदुस्तान की' गीत में देश के सभी वीरों तथा स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े ऐतिहासिक स्थलों का परिचय बहुत सुंदर ढंग से दिया गया है। एक अन्य गीत 'दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल' में महात्मा गांधी के जवीन की झांकी प्रस्तुत करते हुए आजादी की लड़ाई की मार्मिक कहानी सुनाई गई। मनोजकुमार ने 'शहीद' बनाकर भारत

के स्वतंत्रता संग्राम में भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियों के महान त्याग तथा शौर्य का बखान किया। इससे पहले 1962 के चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि पर चेतन आनंद की 'हकीकत' ने भारतीय सेनाओं के बारे में गर्व तथा अभिमान का भाव जगाया और देश के प्रति विमुख हो रहे नौजवानों को राष्ट्रभक्ति का नया पाठ पढ़ाया। 1965 के भारत-पाक युद्ध को आधार बनाकर मनोजकुमार ने 'उपकार' का निर्माण किया जिसमें सैनिकों के साथ-साथ देश के लिए अनाज उगाने वाले किसानों को भी गौरवान्वित किया गया। यह फिल्म तत्कालीन प्रधानमंत्री एवं भारत माता के अमर सपूत लाल बहादुर शास्त्री के नारे 'जय जवान जय किसान' से प्रेरणा लेकर बनाई गई थी। 1960 में राजकपूर ने 'जिस देश में गंगा बहती है' फिल्म का निर्माण किया। यद्यपि यह फिल्म डाकुओं की समस्या पर आधारित थी किंतु गीत-संगीत तथा घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के माध्यम से इसमें देशभक्ति का भाव पैदा करने का भी प्रयास किया गया। मनोजकुमार की 'पूरब और पश्चिम' में पश्चिम की तुलना में भारतीय मूल्यों की श्रेष्ठता का चित्रण करते हुए देशभक्ति का भाव पैदा करने का प्रयास निहित था।

कश्मीर में आतंकवाद तथा उसे भड़काने में पाकिस्तान की भूमिका जैसे नाजुक विषय पर 'रोजा' फिल्म बनी जो अपने उद्देश्य में काफी सफल रही। इस फिल्म में एक भारतीय अधिकारी की दृढ़ता तथा देश के हितों के साथ समझौता न करने के संकल्प का अत्यंत प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया गया। इससे कई वर्ष पहले एम.एस.. सत्यू ने भारत-विभाजन की त्रासदी को लेकर 'गर्म हवा' बनाई जिसमें मुस्लिम समुदाय के भारत प्रेम का मार्मिक चित्रण देखने को मिला। भारत-पाक युद्ध की एक प्रेरक तथा उत्साहवर्धक घटना के आधार पर 1999 में बनी 'बॉर्डर' फिल्म भी देशभक्ति से ओतप्रोत है। इसमें अत्यंत कठिन परिस्थितियों में भारतीय सेनानियों की वीरता, बलिदान एवं देश पर मर-मिटने के प्रेरणादायी पहलू का सुंदर एवं रोचक चित्रण किया गया। 2001 में एक ही दिन रिलीज हुई दो फिल्में 'गदर' और 'लगान' भी अपने-अपने ढंग से देशभक्ति का भाव जागृत करने में सफल रहीं। इस प्रकार विदेशियों से देश की रक्षा या संकट की परिस्थितियों में देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना को दर्शाने वाली फिल्में भारतीय सिनेमा के प्रारंभिक दौर से लेकर आज तक बनती आई हैं।

सांप्रदायिक एवं सामाजिक सौहार्द

इतिहास साक्षी है कि हमारा देश अपसी फूट एवं कलह के कारण ही लंबे समय

तक पराधीन रहा। इसलिए राष्ट्रभक्ति के साथ-साथ देश के विभिन्न वर्गों में एकता एवं समरसता की भावना जागृत करना भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। वे फिल्में भी उल्लेखनीय हैं जिनमें भारतीय जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण पक्ष या मूल्य को चित्रित करके भारतीयता के प्रति गर्व एवं स्वभिमान का भाव दर्शाया गया हे। इस संदर्भ में व्ही, शांताराम की 'डॉ. कोटनिस की अमर कहानी' का नाम लिया जा सकता है, जिसमें पड़ोसी देश चीन में घायलों की चिकित्सा के लिए भेजी गई मेडिकल टीम में शामिल डॉ. कोटनिस के बलिदान को दर्शाकर भारत की उदारता तथा मानवीयता का परिचय दिया गया। इसी तरह 1957 में बनी महबूब खां की फिल्म 'मदर इंडिया' में भारतीय नारी की गरिमा तथा उच्च आदर्शों एवं जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए सर्वस्व त्याग कर सकने की क्षमता को दिखाया गया। 'झनक-झनक पायल बाजे' में पश्चिमी संगीत की अंधी दौड़ में भी भारतीय संगीत की शक्ति एवं श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया गया। उदयशंकर की फिल्म 'कल्पना' में भी यही प्रयास परिलक्षित होता है।

भारतीय समाज को विभाजित करने वाली कुरीतियों—जाति प्रथा, अस्पृश्यता तथा सांप्रदायिकता को लेकर अनेक फिल्में बनी हैं, किंतु प्रभावशाली ढंग से इन समस्याओं को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत करने में बहुत कम फिल्में सफल हो पाई हैं। 1940 में दशक में अशोक कुमार तथा देविका रानी को लेकर बनी 'अछूत कन्या' अस्पृश्यता के मसले को गंभीरता से उठाने वाली संभवत: पहली फिल्म थी। बिमल राय की 'सुजाता' का हिंदी फिल्मों में अमिट स्थान है, जिसमें आधुनिक चिकित्साविज्ञान की सहायता से अस्पृश्यता की निरर्थकता को प्रतिपादित किया गया और समाज के सभी वर्गों की समानता पर बल दिया गया। सांप्रदायिक सौहार्द कायम करने की दृष्टि से बी.आर चोपड़ा द्वारा निर्देशित 'धर्मपुत्र' का भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर बनी इस फिल्म में हिंदू-मुस्लिम दंगों में राजनेताओं की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों का परदाफाश करते हुए दोनों संप्रदायों के परंपरागत प्रेम तथा भाईचारे पर प्रकाश डाला गया। भीष्म साहनी के उपन्यास पर आधारित तथा गोविंद निहलानी द्वारा निर्देशित फिल्म 'तमस' में भी भारत-विभाजन की पृष्ठभूमि में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को हवा देने वाले तत्त्वों को साहस के साथ बेनकाब किया गया और राष्ट्रीय एकता के लिए दोनों समुदायों के आपसी प्रेम की आवश्यकता पर बल दिया गया। 1993 में मुंबई में हुए दंगों पर आधारित मणिरत्नम के निर्देशन में बनी फिल्म 'बांबे' में भी सांप्रदायिक सौहार्द को प्रभावपूर्ण शैली में चित्रित किया गया। पंजाब में आतंकवाद

तथा हिंदुओं व सिखों में भेद पैदा करने की करतूतों की सच्ची तसवीर पेश करने के लिए गुलजार ने 'माचिस' का निर्देशन किया, जिसमें आतंकवाद की कुरूपता एवं निरर्थकता सिद्ध करने के साथ-साथ विभिन्न समुदायों के बीच समरसता को सुंदर ढंग से चित्रित किया गया। 'एक दूजे के लिए' जैसी फिल्में भी बनी हैं जिनमें उत्तर तथा दक्षिण भारत की संस्कृति में एकता के भाव को चित्रित किया गया है।

हिंदी का प्रसार

आजादी की लड़ाई के दौरान ही हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा तथा सपर्कभाषा स्वीकार कर लिया गया था और उसका प्रयोग तथा प्रसार राष्ट्रभक्ति का प्रतीक बन गया था। आजादी के बाद संविधान में इसे राजभाषा भी स्वीकार कर लिया गया। परंतु हिंदी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने में जिन तत्त्वों का सबसे अधिक योगदान रहा है, उनमें हिंदी फिल्मों का स्थान बहुत ऊपर है। सच तो यह है कि पूरे देश तथा सभी वर्गों के लोगों तक पहुंच के कारण फिल्मों ने हिंदी को विभिन्न प्रांतों के लोगों की भाषा बना दिया है। फिल्मों के संवादों तथा गीतों के माध्यम से दक्षिण, पूर्वोत्तर, पूर्व और यहां तक कि सुदूर द्वीपों के लोग भी हिंदी समझ और बोल लेते हैं। हिंदी फिल्मों के गीतों और संवादों में सहज-सरल तथा बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता है, जिससे हिंदी का लोकप्रिय रूप उभरने में मदद मिली है। उर्दू तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों के इस्तेमाल से हिंदी का शब्द-भंडार निरंतर समृद्ध हो रहा है। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का देशव्यापी विकास वास्तव में राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक है। इसके अलावा हिंदी फिल्मों में सारे देश के रीति-रिवाजों, परंपराओं, लोकनृत्यों लोकगीतों तथा लोकधुनों का चित्रण किया जाता है, जिससे वे सभी क्षेत्रों के लोगों द्वारा पसंद की जाती हैं और वे हिंदी सीखने के लिए प्रेरित होते हैं।

गीत-संगीत

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है कि हिंदी फिल्मों का संगीत देश के सांस्कृतिक गतिविधियों एवं लोकजीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में भी फिल्मी गीत-संगीत का अद्वितीय योगदान रहा है। देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता तथा सांप्रदायिक सौहार्द की प्रेरणा देने वाले गीत धार्मिक-ऐतिहासिक फिल्मों के दौर में ही शुरू हो गए थे जब हमारा देश गुलाम था। अंग्रेजों को 'भारत छोड़ो' का संकेत देने वाल गीत 'दूर हटो ए दुनियावालो,

हिंदुस्तान हमारा है' उसी युग में आया था। अंग्रेजों के भारत से कूच करने पर उत्साह एवं प्रसन्नता की अभिव्यक्ति 'मजबूर' फिल्म के इस गीत के रूप में हुई—'अब डरने की बात नहीं, अंग्रेजी छोरा चला गया, वो गोरा-गोरा चला गया।' आजादी के बाद बनने वाली बहुत-सी फिल्मों में देशभक्ति के गाने शामिल किए गए जिनमें से अनेक गीतों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लोकप्रिय गीत 'मेरा जूता है जापानी फिर भी दिल है हिंदुस्तानी', 'मेरे देश की धरती सोना उगले', 'होंठों पे सच्चाई रहती है', 'मेरा रंग दे बसंती चोला', 'वो भारत देश है मेरा' जैसे असंख्य हिंदी गीत अनेक दशकों से देशवासियों में राष्ट्रभक्ति पैदा करने की भूमिका निभाते आए हैं।

परंतु हिंदी फिल्मी संगीत का योगदान यहीं तक सीमित नहीं है। हिंदी फिल्मी गीत समूचे देश में सुने, गाए और बजाए जाते हैं, जिससे देश की भावात्मक एकता को बल मिलता है। विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक आयोजनों, शिक्षा संस्थाओं तथा धार्मिक अवसरों पर भी फिल्मी गीतों का आनंद लिया जाता है। गुजरात हो या महाराष्ट्र, कनार्टक हो या उड़ीसा, बच्चे तथा किशोर अंताक्षरी कार्यक्रमों में हिस्सा लेते हुए हिंदी फिल्मी गाने गाना ही पसंद करते हैं। लता मंगेशकर, मोहम्मद रफी, मुकेश, आशा भोंसले, किशोर कुमार, कुमार शानू, कविता कृष्णामूर्ति, उदित नारायण जैसे गायक केवल हिंदीभाषी प्रदेशों में नहीं, समूचे देश में, बल्कि विदेशों में बसे भारतीयों में भी लोकप्रिय हैं। 'हम दोनों' फिल्म का गीत 'अल्लाह तेरो नाम, ईश्वर तेरो नाम' समूचे देश के लोगों में श्रद्धा तथा भक्ति का संचार कर देता है। जब आप सुनते हैं—'शेख, बिरामन, मुल्ला पांडे सब हैं इक माटी के भांडे' तो सभी वर्गों की समानता का चित्र उभर आता है। 'आवारा', 'श्री 420', 'मधुमती', 'नवरंग', 'मदर इंडिया', 'अनारकली', 'कोहिनूर', मेरे महबूब', 'पारसमणि', 'छलिया', 'गंगा-जमुना', 'मुगले आजम', 'संगम', 'गाइड', 'जय संतोषी मां', 'बॉबी', 'पाकीजा', 'मिलन', 'कयामत से कयामत तक', 'मैंने प्यार किया', 'हम आपके हैं कौन' और 'बॉर्डर' आदि असंख्य फिल्मों में संगीत का केंद्रीय स्थान रहा है। ऐसी फिल्मों के गीत फिल्में रिलीज होने से पहले ही लोगों के गले का हार बन जाते हैं।

हिंदी फिल्मों के संगीत का एक अद्‌भुत पहलू यह भी है कि देश के विभिन्न प्रांतों के गायक, गीतकार तथा संगीतकार अपनी कला तथा प्रतिभा से इसे श्रेष्ठता व विविधता प्रदान करने में योगदान देते हैं। उदाहरण के लिए एस.डी. बर्मन के संगीत में पूर्वी प्रांतों की लोकधुनों की छाप दिखाई देती है तो ओ.पी.

नय्यर की धुनों व आनंद बख्शी के गीतों में पंजाबियत की खुशबू महकती है। शंकर-जयकिशन अपने गीतों के लिए अलग-अलग प्रांतों से धुनें चुना करते थे। 'मिलन' फिल्म का गाना 'सावन का महीना पवन करे शोर' वास्तव में गोआ की एक धुन पर आधारित है। इसी प्रकार 'मधुमती' फिल्म के गीत 'दैया रे दैया, चढ़ गया पापी बिछुआ' की धुन के लिए संगीतकार सलिल चौधरी को उत्तराखंड की पहाड़ियों पर घूमना पड़ा था। 'प्यार का मौसम' गीत की धुन आर.डी. बर्मन ने दार्जिलिंग में एक गीत सुनकर तैयार की थी।

हिंदी फिल्मी गीत-संगीत में वास्तव में समूचे देश की प्रतिभाओं का योगदान रहता है। एक प्रांत का गीतकार है तो दूसरे प्रांत का संगीतकार और किसी तीसरे प्रांत का गायक है। इसी प्रकार विभिन्न धर्मों तथा संप्रदायों के कलाकार दूसरे धर्मों व संप्रदायों से संबंधित गीतों की रचना करते हैं। हिंदुओं द्वारा गाए जाने वाले अधिकतर भजन और भक्तिगीत मोहम्मद रफी द्वारा गाए गए हैं जो स्वयं मुसलमान थे। इस संदर्भ में 'मन तड़पत हरि दर्शन को आज' का उदाहरण लिया जा सकता है जिसे लिखा शकील बदायूनी ने, संगीतबद्ध किया नौशाद ने और गाया मोहम्मद रफी ने।

दक्षिण की अनेक फिल्में हिंदी में दुबारा बनाई जाती हैं जिससे दक्षिण भारत की संस्कृति तथा परंपराओं की देश-भर में प्रस्तुति होती है। इसी प्रकार अन्य प्रांतों एवं क्षेत्रों की संस्कृति की झलक दिखाने वाली फिल्में भी हिंदी में खूब बनती हैं। जहां विभिन्न भारतीय भाषाओं की फिल्में उस भाषा के प्रांत या क्षेत्र-विशेष की रुचि को ध्यान में रखकर बनती हैं, वहां हिंदी में अधिकतर फिल्में अखिल भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखकर बनाई जाती हैं जो समूचे देश की जनता की रुचि के अनुरूप होती हैं। इस प्रकार हिंदी सिनेमा अपने स्वरूप एवं प्रकृति से ही राष्ट्रीय है।

यह सच है कि आज की अधिकतर हिंदी फिल्मों में हिंसा, सेक्स, अश्लीलता एवं फूहड़पन की भी भरमार रहती है। विभिन्न कारणों से हिंदी सिनेमा कलात्मकता के मार्ग से भटककर निपट व्यावसायिकता की सुरंग की ओर बढ़ा चला जा रहा है। परंतु यह जाने-अनजाने राष्ट्रीय चेतना को पुष्ट करने की अपनी परंपरा को आज भी निभा रहा है। वीडियो तथा टेलीविजन के नए-नए चैनलों के माध्यम से हिंदी फिल्मों की पहुंच एवं प्रसार में अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है जिससे हमारे सांस्कृतिक जीवन में इसका असर अधिक गहरा होता जा रहा है। इतने सशक्त एवं व्यापक अपील वाले जनसंचार माध्यम की उपेक्षा करने का अर्थ है,

अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारना और कोई भी जागरूक समाज ऐसा नहीं करना चाहेगा। अतः भारत के समझदार एवं बुद्धिजीवी लोगों, कलाकारों, संगीतकारों आदि को अच्छी फिल्मों के निर्माण में सहयोग देना चाहिए ताकि हिंदी फिल्म उद्योग हिंसा, अपराध और अश्लीलता के व्यापारियों के हाथों में सिमटने की बजाय सामाजिक संदेश का वाहक बने और मनोरंजन के साथ-साथ एकता, समानता एवं राष्ट्रीय चेतना जैसे उदात्त आदर्शों का संचार करता रहे। अब तक का इतिहास साक्षी है कि हिंदी सिनेमा इस दायित्व को निभाने में पूरी तरह सक्षम है।

विज्ञापनों का मायाजाल

अपनी चीज या विचार को दूसरों के सामने बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने की कला बहुत पुरानी है। हां, इस कला का इस्तेमाल व्यावहारिक और व्यापारिक स्तर पर करने का सिलसिला अवश्य नया है। इसी कला को विज्ञापन कहा जाता है।

औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के फैलाव के साथ-साथ विज्ञापन की कला भी अपने पंख फैलाती गई और आज आलम यह है कि विकसित देशों की बात तो दूर, भारत जैसे गरीब देश में भी विज्ञापन व्यापार का आवश्यक अंग बन गया है। आज विज्ञापन के बिना कुछ भी नहीं बेचा जा सकता। सुई से लेकर जहाज तक को बेचने के लिए विज्ञापन का सहारा लेना पड़ता है।

सफल विज्ञापन वह है जो भावी ग्राहकों को यह एहसास करा दे कि विज्ञापित वस्तु बाकी वस्तुओं से बेहतर है। विज्ञापन-कला के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह सुनारों के बीच का झगड़ा है, जिसमें हरेक का यह दावा है कि उसका सोना दूसरे के सोने से ज्यादा शुद्ध है। विज्ञापन अब व्यापार बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि व्यापार चलाने के लिए जरूरी हो गया है। इसकी तुलना नशे से की जा सकती है जो प्रारंभ में आनंद के लिए किया जाता है, परंतु धीरे-धीरे व्यक्ति उसका गुलाम बन जाता है। विज्ञापन का चलन तो व्यापार को बढ़ाने के लिए हुआ था किंतु अब पानी सिर से ऊपर चढ़ आया है और यह व्यापार के अस्तित्व के लिए अनिवार्य बन गया है। इसे सोने का भी पिंजरा कह सकते हैं, जो कितना भी सुंदर, लुभावना और चमकदार क्यों न हो, है पिंजरा ही, जिसमें व्यापारी और उपभोक्ता दोनों ही सम्मोहित होकर कैद हो जाते हैं। विज्ञापन का अर्थ समझाते हुए प्रसिद्ध व्यंग्यकार ब्रिट ने कहा—'बिना विज्ञापन व्यापार करना किसी खूबसूरत लड़की को अंधेरे में आंख मारना है। तुम तो जानते हो कि उस समय तुम क्या कर रहे हो, पर वह नहीं जानती, जिसके लिए कर रहे हो!'

जैसे-जैसे उत्पादित वस्तुओं का दायरा बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे विज्ञापनों के विषयों और शिल्प का विस्तार होता जा रहा है। फिर भी सबसे अधिक विज्ञापन उपभोक्ता वस्तुओं, अर्थात् खाने-पीने तथा रहन-सहन के काम आने वाली

वस्तुओं का किया जाता है। इनमें सिगरेट, वस्त्र, टुथपेस्ट, फर्नीचर, जूते, साबुन, वनस्पति, चाकलेट, आइसक्रीम, शृंगार-सामग्री, गहने, पंखे, टी.वी., मोबाइल फोन, कंप्यूटर, इंटरनेट कनेक्शन, फ्रिज आदि प्रमुख हैं। कुछ व्यापारिक क्षेत्रों में यह मान्यता है कि जिस अनुपात में विज्ञापन बजट बढ़ता है उसी अनुपात में संबंधित कंपनी के माल की बिक्री बढ़ती है।

भारत जैसे गरीब देशों में, जहां 35 प्रतिशत से अधिक लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन गुजारने को अभिशप्त हैं, केवल पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापनों में हर साल 15 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। इनमें 30 प्रतिशत विज्ञापन उपभोक्ता वस्तुओं के बारे में होते हैं। यहां यह ध्यान देने की बात है कि 25 प्रतिशत विज्ञापन सरकारी होते हैं, जो प्रायः उपभोक्ता वस्तुओं से संबंधित नहीं होते। इस प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन का वास्तविक प्रतिशत कहीं अधिक है। पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ होर्डिंग, दीवारों पर लिखावट, हैंड बिल के जरिये भी विज्ञापन किया जाता है। इस समय टेलीविजन, रेडियो तथा विज्ञापन फिल्मों के माध्यम से भी बड़े पैमाने पर उपभोक्ता तथा अन्य वस्तुओं की जानकारी आम लोगों तक पहुंचाई जा रही है। आकाशवाणी की विज्ञापन प्रसारण सेवा लगभग 35 वर्ष से चल रही है। सीरियल कार्यक्रमों की लोकप्रियता के बाद टेलीविजन पर विज्ञापन प्रसारण के लिए व्यापारिक कंपनियों में होड़ लगी रहती है। अमिताभ बच्चन द्वारा प्रसारित 'कौन बनेगा करोड़पति' कार्यक्रम ने तो विज्ञापनों की संख्या और दर के पिछले सभी रिकार्ड तोड़ दिए। टेलीविजन चैनलों पर समाचार और विचार कार्यक्रमों के साथ भी बड़े पैमाने पर विज्ञापन प्रसारित हो रहे हैं।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है, विज्ञापन का एकमात्र उद्देश्य अपने उत्पादन के गुणों और खूबियों को इस ढंग से पेश करना है कि उस विज्ञापन के संपर्क में आने वाले लोगों में उस वस्तु का उपयोग करने और उसे खरीदने की ललक जगे। इसके लिए वाचिक विज्ञापनों में भाषा और उच्चारण का कमाल होता है तो छपे और दृश्य विज्ञापनों में शब्दों और चित्रों का जादू चलाया जाता है। चित्रों के कारण ही समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं तथा टेलीविजन और सिनेमा के विज्ञापनों का चलन दिनोंदिन बढ़ रहा है। हालात यहां तक पहुंच गए है कि बिना विज्ञापन के कोई पत्रिका चलाना संभव ही नहीं माना जाता। विज्ञापन उन्हीं पत्रों को मिलता है जो खूब बिकते हैं। खूब बिकने की होड़ में स्तर से समझौता करना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि गंभीर किस्म की पत्रिकाएं विज्ञापन पाने में असफल

रहती है और थोड़ा समय चलकर काल का ग्रास बन जाती हैं।

गंभीर विषयों पर पत्र-पत्रिकाओं के लिए विज्ञापनों के अभाव के कारण ही हिंदी की अनेक लोकप्रिय साहित्यिक एवं स्तरीय समाचार-पत्रिकाएं बंद हो गई हैं। यही नहीं, समाचार-पत्रों से भी साहित्यिक पृष्ठ लुप्त होते जा रहे हैं और उनके स्थान पर फिल्मी आख्यान, स्त्रियों के अर्धनग्न चित्र तथा सौंदर्य, फैशन और कैरियर जैसे विषयों पर सामग्री प्रकाशित होने लगी है। बौद्धिक और नैतिक उत्थान को बढ़ावा देने वाले लेख तथा अन्य सामग्री अब आमतौर पर समाचार-पत्रों में दुर्लभ होती जा रही हैं।

वैश्वीकरण और निजीकरण का दौर शुरू होने के बाद से विज्ञापन व्यवसाय का और तेजी से विस्तार हुआ है। विज्ञापन बाजार का बहुत बड़ा हिस्सा बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने हथिया लिया है। ये कंपनियां विज्ञापन के लिए किया गया व्यय उत्पादन का मूल्य बढ़ाकर वसूल कर लेती हैं। किंतु इससे संयम, किफायत और सादगी के मूल्य तेजी से नष्ट हो रहे हैं। एक विज्ञापन का नारा है 'लाइफ मीन्स मोर' अर्थात जीवन की सार्थकता अधिक से अधिक ग्रहण करने में है। कुछ विज्ञापनों में धार्मिक भावनाओं का शोषण किया जाता है। कुछ विज्ञापन पारिवारिक मूल्यों पर आधारित होते हैं, जो रचनात्मक कहे जा सकते हैं। किंतु अधिकतर विज्ञापनों में जीवन के रचनात्मक मूल्यों की उपेक्षा की जाती है।

विज्ञापनों की कृपा से बड़ी तेजी से उपभोक्तावाद पनप रहा है। विज्ञापनों के भुलावे और जादू में आकर भोले-भाले लोग अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके विज्ञापित वस्तुएं खरीदने को बाध्य हो जाते हैं। इससे नकली आवश्यकताएं और मांग बढ़ रही हैं। विज्ञापन के इस आक्रमण ने धीरे-धीरे किस तरह बड़े उद्योगों तथा घरानों का वर्चस्व स्थापित करके छोटे कारीगरों और लघु स्तर पर वस्तुएं बनाने वालों का बिस्तर-बोरिया समेट दिया है, इस पर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। गलत इच्छाएं तथा झूठी आवश्यकताओं को जागृत करके विज्ञापन भौतिकवाद की हवा को आंधी में बदल रहे हैं। असल में विज्ञापन की दुनिया हमारे रहन-सहन की शैली में घुसपैठ करने के बाद अब हमारे सामाजिक और नैतिक मूल्यों को भी छेड़ रही है।

विज्ञापन के इस सम्मोहक चक्रव्यूह में हमारी संस्कृति भी भटक गई है। इसका सबसे बड़ा प्रभाव नारी की प्रतिष्ठा और छवि पर पड़ रहा है, क्योंकि वह प्रदर्शन की वस्तु बन गई है।

विज्ञापन बीड़ी-सिगरेट का हो या साबुन का, टुथपेस्ट का हो या शर्टिंग-

सूटिंग का, फर्नीचर का हो या बच्चों के पाउडर का, हर विज्ञापन में नारी-चेहरा या नारी-शरीर दिखाया जाएगा। रसोई और घर का सामान या मुख्यतया नारियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए नारी का चित्रण तो समझ में आता है, पर सिगरेट, पुरुषों के वस्त्र, जूते, टेलीविजन, टुथब्रश, इलेक्ट्रॉनिक उपकरण जैसे उत्पादों के विज्ञापन में भी महिलाओं को उत्तेजक तथा अर्धनग्न मुद्राओं में चित्रित करके लोगों की भावनाओं तथा वासनाओं का शोषण किया जा रहा है। फिल्मी विज्ञापनों में औरत को सिर्फ सेक्स के प्रतीक के रूप में पेश किया जाता है। लगता है, विज्ञापन एजेंसियों की दृष्टि में नारी-शरीर का प्रदर्शन किसी वस्तु की बिक्री की गारंटी है। जिस प्रकार कपड़े को विविध रंगों और डिजाइनों में तैयार करके ग्राहक को आकर्षित किया जाता है उसी प्रकार नारी के विविध अंगों को अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत करके उत्पादों को बेचने की चेष्टा की जाती है।

प्रश्न यह है कि नारी को इतना सस्ता बनाने के इस षड्यंत्र का मुख्य अपराधी कौन है? व्यापारी? अथवा इन विज्ञापनों से प्रभावित होकर माल खरीदने के लिए लालायित होने वाला उपभोक्ता? क्या व्यापारी अपनी वस्तुओं के गुणों से पूरी तरह आश्वस्त होने के कारण स्त्री-शरीर की अफीम का डोज देना अवश्यक समझता है या उपभोक्ता में इतना विवेक नहीं है कि वह अफीम के प्रभाव में न आए और वस्तु के गुणों और दोषों को स्वयं परख सके?

विज्ञापन का जादू किस कदर सिर पर चढ़ कर बोल रहा है, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि समाचार-पत्र या पत्रिका के जिस संस्करण में नारी की गरिमा और अधिकारों पर जोरदार लेख और कविता-कहानियां छपी होती हैं, उसी के आधे से अधिक पृष्ठों पर छपे विज्ञापनों में औरत को मोम की रंगीन गुड़िया और पुरुषों को खुश करने में अपने अस्तित्व की सार्थकता समझने वाली रंगी-पुती कठपुतली के रूप में चित्रित किया जाता है। सब जानते हैं कि टेलीविजन पर नारी को उसके अधिकारों के प्रति सजग बनाने तथा पुरुष के समान आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले अनेक सीरियल दिखाए जाते हैं। परंतु इन्हीं तथाकथित प्रगतिशील धारावाहिकों में आने वाले कमर्शियल ब्रेक के दौरान जो विज्ञापन प्रस्तुत किए जाते हैं, उन्हें देखकर यही लगता है कि भारत की औरत घर की चारदीवारी में बंद रहकर बच्चे पालने, कपड़े धोने, चाय बनाने, साज-श्रृंगार करने और मर्दों को रिझाने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। यदि प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छप रहे और टेलीविजन पर दिखाए जा रहे अधिकतर

विज्ञापनों पर नजर डाली जाए तो यही बात जहन में उभरती है कि भारतीय नारी को अंग-प्रदर्शन करने और सजीले पुरुषों को हसरत-भरी निगाहों से देखकर उनके वस्त्रों, सिगरेट, स्कूटर, टाई या घने काले बालों पर लट्टू होने, सारे घर के कपड़े उजले करने तथा खास तरह के वनस्पति या तेल में स्वादिष्ट भोजन तैयार करने के सिवाय कोई काम ही नहीं है। इनमें भी अंग-प्रदर्शन का स्थान पहला है।

बेबी पाउडर बनाने वाली एक प्रसिद्ध बहुराष्ट्रीय कंपनी ने तो मातृत्व जैसे पवित्र भाव के साथ भी खिलवाड़ करते हुए उसमें सेक्स घुसेड़ने से परहेज नहीं किया। इस विज्ञापन में एक युवती अपने बच्चे को कंधे से लगाए हुए बच्चे की तरफ इस कोण से देख रही है कि युवती का सलोना चेहरा दर्शकों को दिखाई दे। यही नहीं, इस महिला की पीठ नंगी दिखाई गई है। एक वस्त्र-कंपनी के विज्ञापन में रंग-बिरंगे वस्त्रों में लिपटी सजी-संवरी युवती को मनमोहक मुद्रा में पेश किया गया और हाशिए में मोटे अक्षरों में लिखा—'यू फेसीनेट मी' अर्थात् तुम मुझे लुभा रहे हो। जाहिर है कि यह बात कपड़ों के लिए नहीं, अपितु उक्त युवती को संबोधित की गई। एक खास पेंट के बारे में तैयार किए गए विज्ञापन में चमचमाती रंग-बिरंगी दीवारों वाले विशाल हाल के बीचोबीच एक अर्धनग्न युवती को बैठा दिया गया। जहां स्त्री की कोई संगत ही नहीं, वहां भी उन्हें प्रस्तुत करने के पीछे उसके रूप को भुनाने के सिवाय और कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। टेलीविजन चैनलों पर एक स्कूटर का विज्ञापन कुछ महिला संगठनों के विरोध के बाद हटा लिया गया, जिसमें बड़े अश्लील ढंग से स्कूटर के विभिन्न हिस्सों की तुलना नारी के अंगों से की गई और अंत में यह भाव अभिव्यक्त किया गया कि स्कूटर का प्रयोग करते हुए आप उस औरत का उपभोग कर रहे हैं।

इस प्रकार के विज्ञापनों से नारी की प्रतिष्ठा तो गिरती ही है, एक खतरनाक संकेत यह निकलता है कि औरत और उपभोक्ता वस्तु एक समान हैं। अर्थात् औरत एक इनसान नहीं, एक वस्तु है। विज्ञापन की आड़ में औरत को कमजोर बनाने के इस षड्यंत्र के सामाजिक दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं।

एक और दुःखद पक्ष यह है कि विज्ञापनों में भारतीय नारी का एकदम कृत्रिम और अवास्तविक रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। क्या सचमुच भारत की औरत इतनी खूबसूरत, संपन्न, वैभवशाली और सुखी है, जैसी इन विज्ञापनों में दिखाई देती है? हम जानते हैं कि वास्तविकता इससे कोसों दूर है। परिवार की जिम्मेदारी के बोझ से दबी, शराबी पति के लात-घूंसे खाकर बच्चों के लिए अपनी जिंदगी को मिट्टी में मिला देने वाली, बच्चों को सड़कों के किनारे छोड़कर ऊंची-

ऊंची इमारतों के निर्माण-कार्य में खटने वाली, खेतों में मर्दों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हल जोतने वाली, दहेज के कारण अविवाहित रहकर जीवन बिताने वाली तथा सास-ससुर के अत्याचारों से तंग आकर अपना जीवन समाप्त करने पर मजबूर होने वाली औरत का कोई नामोनिशान इन विज्ञापनों में नहीं होता। यही क्यों, पुरुषों के समान हर क्षेत्र में महारत हासिल करने वाली और आत्म-निर्भरता की राह पर अग्रसर होने वाली तथा अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली औरत की झलक भी कहां मिलती है?

विज्ञापन के इस रंगीन जाल में औरत को एक मकड़ी की भांति फंसा दिया गया है जो तड़प-तड़पकर पुरुषों को रिझाती है और लोगों की वासना को उकसाकर विज्ञापित वस्तुओं के प्रति ललक जगाती है। इस प्रकार का चित्रण नारी की गरिमा के खिलाफ तो है ही, लंबे संघर्ष के बाद भारतीय महिलाओं ने आत्म-विश्वास, आत्मगौरव तथा अधिकार चेतना का जो सफर तय किया है, उसे भी पीछे ले जाने वाला है। इसका एक और खतरनाक सामाजिक परिणाम यह हो रहा है कि इस कृत्रिम रूप में नारी के चित्रण को नारी मुक्ति का पर्याय मान लिया जाता है, जिससे नारी की नकारात्मक छवि बनती है। मान-मर्यादा के नाम पर स्त्री को दासी बनाए रखने के विचार के समर्थक इस स्थिति को हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इससे अधिकारों के लिए स्त्री की लड़ाई कमजोर हो जाती है। नारी को कमजोर बनाने के साथ-साथ समाज पर भी इसका दुष्परिणाम पड़ता है। स्त्री के कृत्रिम चित्रण की चकाचौंध में समाज, विशेषकर युवावर्ग वास्तविकता से भटककर सपनों की दुनिया में जीने लगता है। कच्ची उम्र की लड़कियां फिल्मी हीरोइन द्वारा इस्तेमाल किए गए साबुन से अपना रूप निखारने के झूठे जाल में फंसती हैं और जीवन को सार्थक बनाने तथा मेहनत करके आगे बढ़ने के रास्ते से भटक जाती हैं। नारी को उच्छृंखल रूप में प्रस्तुत करना कई प्रकार की सामाजिक विकृतियों को जन्म दे रहा है। पुरुष जिस रूप में नारी को विज्ञापनों में देखता है, उसी उच्छृंखल, चंचल और शोख रूप में वह वास्तविक जीवन में देखने की कामना करता है। इस कारण वह मर्यादाएं भंग करके गलत रास्ते पर चलने लगता है।

नारी-देह के इस कुत्सित प्रदर्शन का विरोध समय-समय पर होता रहा है, किंतु इसके खिलाफ जोरदार आवाज अभी तक नहीं उठाई गई है। महिला संगठनों ने कुछ महानगरों में प्रदर्शन भी किए और राज्य सरकारों तथा केंद्र से इस संबंध में कार्रवाई करने की भी मांग की। महिलाओं को अशोभनीय रूप में प्रदर्शित करने

पर रोक लगाने के लिए कानून भी बनाया गया है, जिसके अंतर्गत महिलाओं के अश्लील प्रदर्शन को दंडनीय अपराध घोषित किया गया है। इस कानून के अनुसार, महिलाओं की छवि को अशोभनीय रूप में दिखाने वाली किसी भी पुस्तक, परचे, समाचार-पत्र, पत्रिका, ब्लोअप, लेख, रेखांकन, पेंटिंग, फोटो आदि का न तो वितरण किया जा सकता है और न ही उसे कहीं भेजा जा सकता है। उसे न किराये पर दिया जा सकता है, न ही उसकी प्रदर्शनी का आयोजन किया जा सकता है। इस कानून का उल्लंघन करने वाली कंपनी के निदेशक, प्रबंधक, सचिव या अन्य संबंधित अधिकारी के विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 292, 293 और 294 में भी अश्लील व्यवहार तथा प्रकाशन को अपराध माना गया है। सिनेमेटोग्राफी कानून-1952 में भी महिला को अश्लील रूप में प्रदर्शित करने पर पाबंदी है। परंतु इन कानूनों के अंतर्गत बहुत कम मामलों में कार्रवाई की गई है।

सच तो यह है कि केवल कानून के माध्यम से इस प्रकार की कुत्सित और समाजघाती किंतु विशाल व्यवसाय का रूप ले चुकी प्रवृत्ति पर रोक नहीं लगाई जा सकती। जब दहेज, सती व नशीले पदार्थों का सेवन जैसी साामजिक समस्याएं कानून के दायरे में नहीं आ पातीं तो महिलाओं को अश्लील रूप में पेश करके अपना व्यापार बढ़ाने की ललक भला कानून के जरिये कैसे रोकी जा सकेगी? इसके लिए चेतना जागृत करना जरूरी है।

एक सीधा-सा तर्क है कि यदि व्यापारी या उद्योगपति नारी के रूप की पुड़िया में लपेटकर अपनी वस्तुएं बेच रहा है तो इसका कारण यही है कि आम उपभोक्ता नारी-शरीर की पुड़िया में रखा जहर भी खुशी-खुशी खरीदने को तैयार है। इसका अर्थ यह हुआ कि नारी को गरिमाहीन बनाने में जितना योग विज्ञापनकर्ताओं का है उतना उपभोक्ताओं का भी है। इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है स्त्री को वस्तु और माल समझने का हमारा दृष्टिकोण।

स्त्री के प्रति समाज का दोहरा मापदंड ही इस तरह की विकृति को जन्म देता है। एक ओर तो हम अपनी बेटी, मां, पत्नी को परिवार की प्रतिष्ठा और गरिमा का प्रतीक मानते हैं, वहीं दूसरों की मां-बेटी को गणिका मानकर चलते हैं। हमारी बेटी पर एक छींटा पड़ते ही उसे पूरे कुल के लिए कलंक मान लेते हैं, परंतु किसी दूसरे की बेटी पर कीचड़ की बालटी उड़ेलते हुए भी हमारे हाथ नहीं कांपते। जहां इसके लिए ऐसे विज्ञापनों पर रोक लगाने के लिए आंदोलन चलाना जरूरी है, वहीं समाज में नारी को समानता तथा वास्तविक सम्मान व

गरिमा का स्थान दिलाना भी अत्यंत आवश्यक है।

विज्ञापन जिस गहराई तक हमारे व्यापार-तंत्र का अंग बन चुका है उसे देखते हुए इस पर अंकुश लगाना या इसे हतोत्साहित करना संभव प्रतीत नहीं होता। अब तो कोई काम शुरू करने या कोई उत्पाद बाजार में उतारने से महीनों पहले ही सुनियोजित विज्ञापन अभियान चला दिया जाता है। संभावित ग्राहकों की पृष्ठभूमि के लिए व्यापक अध्ययन एवं सर्वेक्षण कराए जाते हैं और उसी के आधार पर विज्ञापन की भाषा, चित्रों आदि का चयन किया जाता है। बड़ी कंपनियां करोड़ों रुपये विज्ञापनों पर खर्च करती हैं। छोटे से छोटा व्यवसायी भी विज्ञापन का सहारा लेना पसंद करता है। लेकिन उपभोक्ता तथा महिला अधिकारों के कार्यकर्ता क्रमशः अपने आचरण तथा आंदोलन से विज्ञापनकर्ताओं को यह चेतावनी दे सकते हैं कि विज्ञापन संतुलित हों, सच्चे हों और नारी-गरिमा की मर्यादा का उल्लंघन न करते हों।

पत्रिका प्रकाशन

भारत में पत्रकारिता का श्रीगणेश 1780 में हुआ और हिंदी में पत्रकारिता का उद्भव 1826 में 'उदंत मार्तंड' पत्र के साथ माना जाता है। इस प्रकार लगभग 200 वर्षों से अधिक की कालावधि में भारतीय पत्रकारिता लंबी यात्रा तय करने के बाद आज भारतीय समाज के जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी है।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रसार ने विश्व-भर में पत्रकारिता के लिए चुनौती पेश की है। इससे कई पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार-संख्या घटी है और कुछ पत्रिकाएं बंद भी हो गई हैं, किंतु हिंदी, अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं की बहुत-सी पत्रिकाओं ने लंबे समय से अपनी प्रतिष्ठा कायम की हुई है और लोकप्रियता के नए मानदंड स्थापित कर रही हैं। पत्रिकाओं की प्रकाशन टेक्नोलॉजी में भी आमूल परिवर्तन आ गया है और अब कई रंगों वाली सचित्र पत्रिकाएं बढ़िया आर्ट पेपर पर छपकर पाठकों को लुभा रही हैं। कंप्यूटर की मदद से कंपोजिंग की आधुनिक तकनीक अपनाई जा रही है। यही नहीं, विकसित देशों की भांति भारत में भी पत्रिकाओं के बीच मूल्य-युद्ध दिखाई देने लगा है और बहुत-सी पत्रिकाएं अब ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अपना रंग-रूप निखारने के साथ-साथ कई तरह के इनामों और उपहारों की पेशकश कर रही हैं। विज्ञापन प्राप्त करने की होड़ बढ़ती जा रही है। भारतीय पत्रिकाएं अब काफी हद तक व्यापारिक रूप प्राप्त कर चुकी हैं। आधुनिक टेक्नोलॉजी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर ही मुद्रण पत्रकारिता इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से स्पर्धा कर सकती है।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात पत्रिकाओं की संख्या के साथ-साथ उनके विषयों, रंग-रूप, साज-सज्जा और प्रसार में भी उल्लेखनीय सुधार हुआ। पत्रिकाएं स्वस्थ मनोरंजन करने के साथ-साथ विज्ञान, संस्कृति, राजनीति, खेलकूद जैसे विविध विषयों पर व्यापक बहस का माध्यम बन गई हैं। यह सच है कि पत्रिकाओं का प्रकाशन अब पहले जैसा सरल और सस्ता प्रयास नहीं रहा। समय बीतने के साथ यह बहुत जटिल और महंगा व्यवसाय बनता जा रहा है। फिर भी हमारे देश में पत्रिका प्रकाशन के क्षेत्र में स्थिति कुल मिलाकर संतोषजनक है। 1999 तक

के आंकड़ों के अनुसार भारत की लगभग 100 भाषाओं व बोलियों में कुल 46,655 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा था। इनमें दैनिक पत्रों की संख्या लगभग 5,157 थी। शेष नियतकालिक प्रकाशनों को पत्रिका की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें साप्ताहिक पत्रिकाओं की संख्या 16,872, पाक्षिक पत्रिकाओं की 6,240 और मासिक पत्रिकाओं की संख्या 12,796 थी। सबसे अधिक संख्या हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की है।

पत्रिकाओं का प्रकाशन स्वतंत्रता से पूर्व मुख्यतया देशभक्ति तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव जागृत करने के उद्देश्य से किया जाता था। स्वतंत्रता के उपरांत जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति पत्रकारिता के स्वरूप, संरचना एवं उद्देश्यों में परिवर्तन आया और मनोरंजन, सूचना तथा शिक्षा के बुनियादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न विषयों तथा विविध वर्गों की आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं के अनुरूप पत्रिकाएं निकलने लगीं। हिंदी में भी राजनीति से लेकर सिनेमा, साहित्य से लेकर कंप्यूटर, सौंदर्य प्रसाधन से लेकर खेल जगत, व्यापार से लेकर अंतरिक्ष-विज्ञान तक तथा बाल-साहित्य, श्रमिक, किसान, विद्यार्थी, व्यापारी, वकील आदि अनेक वर्गों को समर्पित पत्रिकाएं छप रही हैं।

स्वरूप और प्रकार

यों तो पत्र और पत्रिकाएं दोनों मुद्रित जनसंचार माध्यम का अंग हैं, किंतु दैनिक समाचार-पत्र तथा पत्रिकाओं में काफी अंतर है। समाचार-पत्र में समाचार और विचार दोनों होते हैं, किंतु उसमें विचार पक्ष पर कम और समाचार पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त दैनिक समाचार-पत्र की सार्थकता अगले दिन समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर, पत्रिका या रिसाला नियतकालिक प्रकाशन होता है, अतः उसमें दिन-प्रतिदिन की घटनाओं की बजाय उसकी अवधि यानी सप्ताह, पक्ष, माह आदि में हुई घटनाओं की जानकारी व समीक्षा शामिल की जाती है। एक और प्रमुख अंतर यह है कि समाचार-पत्र हम प्रतिदिन अनिवार्यतः सुबह-सवेरे पढ़ते हैं, ताकि पिछले दिन की घटनाओं को विस्तार से जान सकें, जबकि पत्रिकाएं हम अपनी सुविधानुसार अवकाश के क्षणों में पढ़ सकते हैं।

समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं में एक और आधारभूत अंतर यह है कि समाचार-पत्र में मुख्यतया वैचारिक पक्ष पर बल दिया जाता है, जिसमें समाचार पत्र में एवं विचार के माध्यम से पाठकों का ज्ञान और बौद्धिक स्तर बढ़ाने का प्रयास किया जाता है, किंतु पत्रिकाएं बौद्धिक, सांस्कृतिक, आत्मिक एवं मनोवैज्ञानिक

विकास में भी सहायक होती हैं। अब तो विशुद्ध रूप से शारीरिक विकास यानी स्वास्थ्य, रूप-सज्जा एवं शरीर-सौष्ठव से संबंधित सामग्री देने वाली पत्रिकाएं भी सामने आ रही हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले प्रधानतः राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक पत्रिकाएं निकलती थीं किंतु स्वातंत्र्योत्तर युग में हर विषय और हर वर्ग के पाठकों की रुचि व रुझान के अनुरूप पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। विषय के अतिरिक्त अवधि, पाठक वर्ग आदि के आधार पर भी पत्रिकाओं का वर्गीकरण किया जा सकता है। पत्रिकाओं का वर्गीकरण मोटे तौर पर निम्न आधारों पर किया जा सकता है :

अवधि के आधार पर

साप्ताहिक : सप्ताह यानी सात दिन के बाद निकलने वाली पत्रिका।

पाक्षिक : दो सप्ताह या एक पखवाड़े के बाद निकलने वाली पत्रिका।

मासिक : एक मास यानी 30 दिन या दो पखवाड़ों में एक बार निकलने वाली पत्रिका।

द्वैमासिक : दो मास में एक बार या वर्ष में 6 बार निकलने वाली पत्रिका।

त्रैमासिक : तीन मास में एक बार या वर्ष में चार बार निकलने वाली पत्रिका।

अर्द्धवार्षिक : छह महीने बाद या वर्ष में दो बार प्रकाशित होने वाली पत्रिका।

वार्षिक : वर्ष में एक बार निकलने वाली पत्रिका।

अनियतकालिक : बहुत-सी पत्रिकाएं अपने प्रकाशन की अवधि तय नहीं करतीं और वे सुविधानुसार तथा अवसरानुसार प्रकाशित होती हैं। इनमें प्रायः सीमित साधनों वाली पत्रिकाएं शामिल हैं।

दस दिवसीय पत्रिकाएं : अधिकतर देशों और भाषाओं में ऊपर बताई गई अवधि के अंतराल पर ही पत्रिकाएं प्रकाशित की जाती हैं। किंतु हाल में 10 दिन बाद पत्रिकाएं निकालने की प्रवृत्ति देखने में आई है। हिंदी में तो दस दिवसीय पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ नहीं हुआ, किंतु दक्षिण भारत में दस दिवसीय पत्रिका निकालने की परंपरा का सूत्रपात हो चुका है।

विषय के अनुसार

विषय के अनुसार पत्रिकाओं के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, क्योंकि समय बदलने के साथ नए-नए विषय जुड़ते जाते हैं और कुछ विषय पुराने पड़ जाने के कारण तिरोहित भी हो जाते हैं। बहुत-सी पत्रिकाएं विभिन्न विषयों को स्पर्श करती हैं, जिससे सभी रुचियों के पाठक उनकी ओर आकर्षित हो सकें, किंतु इन पत्रिकाओं का भी कोई न कोई मूल स्वर रहता है। उदाहरण के लिए 'इंडिया टुडे' मूलत: राजनीतिक पत्रिका है, किंतु इसमें समाज, पर्यावरण, संस्कृति, खेलकूद, फिल्म, साहित्य, सिनेमा, कला जगत आदि विषयों पर भी सामग्री दी जाती है। मोटे तौर पर विषय के अनुसार पत्रिकाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

समाचार पत्रिकाएं : राजनीतिक समाचार सबसे अधिक आकर्षक होते हैं, अत: राजनीतिक समाचारों, समीक्षाओं, विश्लेषणों और टिप्पणियों को प्रस्तुत करने वाली पत्रिकाएं काफी लोकप्रिय होती हैं। पत्रिकाओं के आरंभिक काल से ही राजनीतिक पत्रिकाएं अग्रणी रही हैं। इनमें 'इंडिया टुडे', 'रविवार', 'पांचजन्य', 'स्वराज संदेश', 'ब्लिट्ज़', 'फ्रंटलाइन', 'आउटलुक', 'नई दिल्ली टाइम्स', 'समाचार सम्राट' आदि उल्लेखनीय हैं। हिंदी में 'दिनमान' साप्ताहिक एक समय बहुत स्तरीय और लोकप्रिय समाचार पत्रिका हुआ करती थी जो बाद में बंद हो गई।

सामान्य पत्रिकाएं : कई पत्रिकाएं विविध विषयों की प्रस्तुति के उद्देश्य से निकलती हैं और वे किसी एक विषय का प्रतिपादन नहीं करतीं। इनमें मनोरंजन और ज्ञान का अधिक बल दिया जाता है। हिंदी में 'सरिता', 'मुक्ता', 'जाह्नवी', 'कादम्बिनी' आदि इसी श्रेणी में आती हैं।

साहित्यक पत्रिकाएं : साहित्य मानव मन की उदात्त अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम है। यों तो साहित्यिक विधाएं यथा कहानी, कविता, लघुकथा, नाटक उपन्यास-अंश आदि सामान्य तथा अन्य विषयों की पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रहती हैं परंतु कुछ पत्रिकाएं इन विधाओं तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों और साहित्यकारों के विवेचन को अपना उपजीव्य बनाती हैं। ऐसी पत्रिकाओं की प्रसार-संख्या प्राय: सीमित रहती है क्योंकि ये रचनाकारों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों और साहित्य- प्रेमियों द्वारा ही पढ़ी जाती हैं। इनमें कला तथा संस्कृति पर भी सामग्री दी जाती है। हिंदी में प्रारंभिक काल से ही साहित्यिक पत्रिकाओं की समृद्ध

परंपरा रही है, किंतु पिछले कुछ वर्षों से इस वर्ग की पत्रिकाओं की संख्या घट रही है। नई-पुरानी साहित्यिक पत्रिकाओं में 'धर्मयुग', 'कल्पना', 'सुधा', 'सरस्वती', 'नई कविता', 'निकष', 'हंस', 'आजकल', 'प्रकर', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'नई कहानी', 'अनुवाद', 'कथांचल', 'ज्ञानोदय', 'नीहारिका', 'पूर्वग्रह', 'कथादेश', 'वागर्थ', 'कहानीकार' आदि नाम गिनाए जा सकते हैं। हिंदी तथा अन्य भाषाओं में लघु साहित्यिक पत्रिकाएं बहुत बड़ी संख्या में छप रही हैं, किंतु उनकी पाठक-संख्या बहुत ही सीमित है।

आर्थिक पत्रिकाएं : अर्थ हमारे जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है और पिछले कुछ वर्षों से भारतीय जन-जीवन में आर्थिक विषयों की महत्ता बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप व्यापार, वाणिज्य एवं शेयर आदि के बारे में आम लोग अधिक रुचि लेने लगे हैं। इसलिए आर्थिक पत्रकारिता का भी विस्तार हुआ है। दुर्भाग्यवश हमारे अर्थ-तंत्र की अधिकतर गतिविधियों की सूचनाएं अंग्रेजी के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित होती हैं, अतः हिंदी में बहुत कम संख्या में आर्थिक या व्यापारिक पत्रिकाएं निकलती हैं। इस वर्ग की पत्रिकाओं में 'व्यापार भारती', 'आर्थिकी', 'आर्थिक समीक्षा', 'रोजगार संचेतना', 'रोजगार समाचार', 'योजना', 'निविदा जगत', 'आर्थिक ज्योति' आदि उल्लेखनीय हैं। 'योजना' भारत सरकार के प्रकाशन विभाग की पत्रिका है जो लगभग 40 वर्षों से आर्थिक विषयों पर उपयोगी जानकारी देती आ रही है। यह हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी तथा 11 अन्य भारतीय भाषाओं में निकलती है। प्रकाशन विभाग के ही साप्ताहिक 'रोजगार समाचार' में विभिन्न विभागों तथा कार्यालयों में रिक्त स्थानों की जानकारी दी जाती है। यह अपने ढंग का अद्वितीय साप्ताहिक है, जिसकी प्रसार संख्या 5 लाख से अधिक है। 'रोजगार समाचार' अंग्रेजी, हिंदी और उर्दू में एक साथ छपता है।

विषय के अनुसार पत्रिकाओं के और भी कई वर्ग हैं, जिनमें विज्ञान पत्रिकाएं, खेल पत्रिकाएं, फिल्म पत्रिकाएं, धार्मिक पत्रिकाएं, सांस्कृतिक पत्रिकाएं आदि हैं। इनमें फिल्म पत्रिकाएं बहुत लोकप्रिय हैं, किंतु टी.वी. चैनलों पर अब फिल्म-संबंधी समाचारों और कार्यक्रमों के बढ़ते प्रसारण के कारण हिंदी की फिल्म पत्रिकाओं की प्रसार-संख्या में हाल में कमी दर्ज की गई है।

वर्ग के अनुसार

विभिन्न आयुवर्गों तथा सामाजिक-आर्थिक वर्गों के अनुसार भी पत्रिकाओं का विभाजन किया जाता है। उदाहरण के लिए— बच्चों, महिलाओं, श्रमिकों, कर्मचारियों,

किसानों, छात्रों आदि के हितों व आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए पत्रिकाएं निकाली जा रही हैं। वर्गों की रुचियों के अनुसार निकलने वाली पत्रिकाओं की स्थिति इस प्रकार है :

बाल पत्रिकाएं : बच्चों की रुचियों, सोच और समझ का स्तर वयस्कों की तुलना में भिन्न तथा अल्पविकसित होता है। अतः बच्चों को उनकी रुचि और बौद्धिक स्तर के अनुरूप सामग्री से युक्त पत्रिकाएं उपलब्ध कराना आवश्यक है। हिंदी में बालकों व किशोरों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली बाल पत्रिकाओं की अच्छी परंपरा रही है। बाल पत्रिकाओं में मुख्यतया मनोरंजक शैली में और कथा-किस्सों के माध्यम से ज्ञान, शिक्षा एवं चेतना का प्रसार किया जाता है। इनमें कार्टून विधा का भरपूर सहारा लिया जाता है। कुछ पत्रिकाएं तो केवल कार्टून आधारित ही होती हैं। चित्रात्मकता यानी फोटो, कार्टूनों, रेखाचित्रों का संयोजन किसी भी आकर्षक बाल पत्रिका का अनिवार्य अंग है। प्रमुख बाल पत्रिकाओं में 'बाल भारती', 'बाल हंस', 'बाल संदेश', 'सुमन सौरभ', 'नंदन', 'चंदामामा', 'पराग', 'चंपक', 'लोटपोट', 'बाल पत्रिका' आदि उल्लेखनीय हैं।

महिला पत्रिकाएं : यों तो सभी प्रकार की पत्रिकाएं महिलाओं व पुरुषों के लिए समान रूप से उपयोगी होती हैं, किंतु केवल महिलाओं से संबंधित विशिष्ट मुद्दों और विषयों को लेकर चलने वाली पत्रिकाएं भी हर भाषा में छप रही हैं। इन पत्रिकाओं में महिलाओं की स्वास्थ्य, मानसिक एवं शारीरिक समस्याओं से जुड़े पहलुओं, सेक्स, घर की साज-सज्जा, शिशुपालन, शृंगार, फैशन के अलावा महिलाओं में आत्मविश्वास व चेतना लाने वाले विषयों को छुआ जाता है। 'माधुरी', 'मनोरमा', 'गृहशोभा', 'गृहलक्ष्मी', 'अंबिका', 'मेरी सहेली', 'रमणी', 'आर्य महिला', 'वनिता' आदि कुछ प्रमुख महिला पत्रिकाएं हैं। 'वामा' टाइम्स आफ इंडिया ग्रुप की एक स्तरीय महिला पत्रिका थी, जो कुछ वर्ष चलने के बाद बंद हो गई।

सरकारी पत्रिकाएं : हमारे यहां अनेक सरकारी मंत्रालयों, विभागों तथा सरकारी, गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों की ओर से भी पत्रिकाएं निकाली जाती हैं। ये मुख्तया दो प्रकार की होती हैं। पहले प्रकार की पत्रिकाएं निकाली तो किसी सरकारी विभाग द्वारा जाती हैं किंतु उनमें सामान्य पाठकों की रुचि की सामग्री दी जाती है। इनमें प्रकाशन विभाग की 'आजकल', 'योजना', 'बाल भारती', 'रोजगार समाचार' और 'कुरुक्षेत्र' के अतिरिक्त 'ग्रामीण विकास', 'भागीरथी', 'पुलिस विज्ञान पत्रिका', 'स्वागत', 'समाज कल्याण', 'भारतीय रेल', 'इस्पात भाषा

भारती' तथा विभिन्न राज्य सरकारों की पत्रिकाएं यथा 'दिल्ली', 'हरियाणा संदेश', 'उत्तर प्रदेश' जैसी पत्रिकाएं सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग की पत्रिकाएं गृह पत्रिकाएं या न्यूजलेटर होती हैं जिनमें केवल विभाग या प्रतिष्ठान-विशेष की गतिविधियों का उल्लेख रहता है और उनका प्रसार प्रतिष्ठान के कर्मचारियों, ग्राहकों व व्यापारियों तक सीमित रहता है।

संपादन

जिस प्रकार दैनिक समाचार-पत्र में एक संपादक या मुख्य संपादक तथा उसकी संपादकीय टीम सामग्री-चयन से लेकर पत्र की छपाई तक की प्रक्रिया संपन्न करती है, उसी प्रकार पत्रिका का भी संपादन किया जाता है। पत्रिका में संपादकीय सहयोगी समाचार-पत्र की तुलना में कम रहते हैं। पत्रिका साप्ताहिक हो या पाक्षिक, मासिक हो या उससे भी अधिक अवधि की, हर अंक की योजना बहुत पहले तैयार की जाती है। संपादक अपने सहयोगियों और संपादक मंडल के परामर्श से पत्रिका के आगामी अंक की योजना बनाता है, जिसमें अंक की विषय सामग्री, चित्रात्मक पहलुओं, मुखपृष्ठ तथा संभावित लेखकों आदि पर विचार किया जाता है। अग्रिम योजना तैयार करना आवश्यक है ताकि पत्रिका व्यवस्थित रूप से समय पर प्रकाशित हो जाए। पत्रिका की समयावधि और पृष्ठ-संख्या के अनुरूप उपलब्ध सामग्री में से आवश्यक सामग्री का चयन करने तथा अवसर आदि के अनुकूल सामग्री प्राप्त करने की रणनीति तय कर ली जाती है। जो सामग्री संवाददाताओं से मंगानी होती है उसके लिए संबंधित संवाददाताओं को सूचित कर दिया जाता है।

पत्रिका के संपादन का दूसरा चरण है—पत्रिका के उद्देश्य तथा अंक की योजना के अनुसार सामग्री प्राप्त करना। सामग्री जुटाने के बारे में हर प्रकार की पत्रिकाओं के लिए समान प्रक्रिया नहीं अपनाई जाती। उदाहरण के लिए समाचार तथा आर्थिक पत्रिकाओं के लिए प्रमुख स्थानों पर संवाददाता नियुक्त किए जाते हैं। वे घटना-विशेष का विवरण भेजते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के लोगों से किसी घटना या समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रतिक्रिया प्राप्त की जाती है और विद्वान विशेषज्ञों से लेख या टिप्पणियां लिखाई जाती हैं। कुछ विषयों पर लेखकों की ओर से निरंतर सामग्री प्राप्त होती रहती है।

सामग्री प्राप्ति होने के बाद उसे परिष्कृत किया जाता है। इसे ही संपादन कहा जाता है। संपादन ऐसी जटिल कला है जिसमें विषय की तथ्यात्मकता और

प्रामाणिकता के साथ-साथ पाठकों की रुचि तथा बौद्धिक क्षमता, भाषा की सुबोधता व प्रभावशीलता, सामाजिक दायित्व आदि को ध्यान में रखते हुए कलम चलानी पड़ती है। यह कार्य संपादक अकेले नहीं करता। हर विषय या स्तंभ के उप-संपादकों या सहायक संपादकों में सामग्री संपादन के लिए बांट दी जाती है। अंतिम रूप से संपादक अवश्यक समूची सामग्री पर नजर डाल लेता है। सामग्री का संपादन करते हुए विविधता, प्रामाणिकता, रोचकता और भाषा की अनुकूलता जैसे पहलुओं को ध्यान में रखा जाता है।

प्रस्तुतीकरण

प्रामाणिक, ज्ञानवर्धक और रोचक-विषय सामग्री को भी कल्पनाहीन तथा अव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया जाएगा तो उसका अपेक्षित प्रभाव नहीं रहेगा। अलग-अलग विषयों तथा विधाओं के लिए अलग-अलग कॉलम या स्तंभ निर्धारित करने से पत्रिका की रोचकता बढ़ती है। इससे पाठक को अपनी प्राथमिकता के अनुसार रचना का चयन करने में भी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए किसी पत्रिका में साहित्य, सिनेमा, विज्ञान, रंगमंच, कलाजगत, राजनीति, पुस्तक समीक्षा, स्वास्थ्य चर्चा आदि स्तंभ बना देने से विषय-सामग्री एकदम व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की जा सकती है। इसी प्रकार साहित्यिक पत्रिका में समालोचना, शोध, कला, कविता, पुस्तक समीक्षा, भेंटवार्ता, व्यंग्य जैसे विविध स्तंभों की व्यवस्था की जा सकती है। राजनीतिक पत्रिका में राष्ट्र, विश्व, राज्य, सत्तापक्ष, विपक्ष, संसद, विधानसभा, प्रधानमंत्री कार्यालय, राष्ट्रपति भवन आदि नाम के स्तंभ बनाए जा सकते हैं। 'संपादक के नाम पत्र' स्तंभ काफी उपयोगी रहता है। इससे पाठकों की प्रतिक्रिया व सुझावों के आधार पर पत्रिका के स्वरूप में परिवर्तन लाने में मदद मिलती है।

संपादकीय आलेख पत्रिका के अंक का दर्पण होता है। संपादकीय में उस अंक में सम्मिलित रचनाओं या घटनाओं पर विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी की जाती है जिससे पाठकों को अगले पृष्ठों में बिखरी विषय-सामग्री की झलक मिल जाती है। संपादकीय आलेख प्रायः संपादक द्वारा लिखा जाता है जिसमें समसामयिक प्रवृत्तियों तथा घटनाओं की समीक्षा भी की जाती है। संपादकीय आलेख का स्वरूप सामान्य रचनाओं से भिन्न होता है। इसमें पाठकों के लिए रचनात्मक संदेश तथा प्रेरणा का भाव विद्यमान रहता है, जिससे पाठकों को एक दिशा मिल सके।

आवरण-कथा पत्रिका के अंक-विशेष की मुख्य रचना होती है। अंक का

मुखपृष्ठ भी प्रायः आवरण-कथा के अनुरूप रखा जाता है। उदाहरण के लिए, किसी पत्रिका में भ्रष्टाचार की समस्या को प्रमुखता से प्रस्तुत किया गया है तो मुखपृष्ठ पर उससे जुड़े चित्र या रेखांकन किए जाएं और आलेख में समस्या से जुड़े सभी पहलुओं का विवेचन किया जाए।

पत्रिका का संपादन एक समग्र प्रक्रिया है जिसमें एक चरण पर काम करते हुए शेष चरणों को ध्यान में रखना आवश्यक है। विषय के संपादन के दौरान संपादक के मस्तिष्क में विषय का आकार, पैरा निर्धारण तथा अन्य कार्य निष्पादित करते हुए उसकी ले-आउट संबंधी आवश्यकताएं भी ध्यान में रहती हैं। विषय-सामग्री को किस रूप में मुद्रित करना है, यही उसका ले-आउट है। इसमें अक्षरों के विविध आकार निर्धारित करने से लेकर पत्रिका के मुखपृष्ठ, चित्र, रेखाचित्र, बाक्स और कार्टून आदि की योजना शामिल है। यह भी देखना होता है कि कौन-सा चित्र रंगीन होना चाहिए और कौन-सा श्वेत-श्याम।

वास्तव में संपादित सामग्री को मुद्रित रूप देने में ही सज्जा-पक्ष की सार्थकता है। पत्रिका अंतिम तौर पर क्या रूप ग्रहण करेगी उसके अनुरूप एक डमी बनाई जाती है जो पत्रिका का कच्चा रूप या प्रारूप होता है। इसमें विषय सामग्री, चित्र, रेखाचित्र, तालिकाएं, बाक्स, विज्ञापन आदि सभी अपने निर्धारित स्थान पर रखे जाते हैं। इससे पत्रिका का समग्र रूप सामने आ जाता है और संपादक अपने अनुभव के आधार पर उसमें आवश्यक परिवर्तन सुझा सकता है।

पुरानी कहावत है कि तसवीर खुद बोलती है। यह भी कहा जाता है कि एक चित्र कभी-कभी हजार शब्दों से अधिक अर्थ अभिव्यक्त कर देता है। आज के युग में जब टेलीविजन के बढ़ते हुए प्रचलन ने लोगों को चित्रोन्मुखी बना दिया है, चित्रों के बिना किसी पत्रिका की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुछ पत्रिकाएं, विशेष रूप से फिल्म, फैशन, विज्ञापन और उपभोक्ता वस्तुओं से संबंधित पत्रिकाएं तो ऐसी भी हैं जो पत्रिका कम और फोटो एलबम अधिक लगती है। फोटो, चित्र, ग्राफ या रेखाचित्र विषय के प्रभाव को बढ़ा देते हैं तथा उनकी सहायता से विषय को समझना सरल हो जाता है।

मुखपृष्ठ किसी भी पत्रिका या उसके अंक-विशेष का मुखड़ा है, जिसे देखकर पत्रिका के सौंदर्य, विषय-सामग्री और स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। मुखपृष्ठ का डिजाइन यों तो कलाकार करता है, किंतु उसका आइडिया संपादक का होता है। कलाकार वास्तव में संपादक के विचार को कलात्मक जामा पहनाता है। मुखपृष्ठ हर अंक में नया रहता है किंतु कुछ अंश स्थायी रहने

चाहिए जो पत्रिका की पहचान बन जाएं।

विज्ञापन

विज्ञापन आज के युग में पत्रकारिता का अनिवार्य अंग है। कोई पत्रिका हमें 10 या 15 रुपये में इसलिए नहीं मिल जाती कि उसकी उत्पादन लागत उतनी ही है, बल्कि इसमें पत्रिका में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों का योगदान रहता है। बिना विज्ञापन के कोई भी पत्रिका व्यापारिक आधार पर नहीं चल सकती। अत: विज्ञापन को अच्छा मानें या बुरा, इसका आश्रय लिए बिना किसी भी भाषा की पत्रिका चलाना असंभव है। हां, मिशनरी भाव से या सरकारी अथवा किसी प्रतिष्ठान या धनी व्यक्ति के समर्थन से कोई पत्रिका अवश्य चलाई जा सकती है। उदाहरण के लिए धार्मिक, आध्यात्मिक या लघु साहित्यिक पत्रिकाएं बिना विज्ञापन के निकलती हैं। अनेक सरकारी पत्रिकाएं भी बिना विज्ञापन के वर्षों से समाज की सेवा कर रही हैं। किंतु व्यापारिक आधार पर पत्रिका निकालने के लिए विज्ञापन की अनिवार्यता असंदिग्ध है।

विज्ञापनों का उपयोग दुधारी तलवार पर चलने के समान है। इन दिनों टी.वी. के दर्शक विभिन्न चैनलों पर विज्ञापनों की भरमार के कारण चैनलों के प्रति आकर्षित होने की बजाए विकर्षित होने लगे हैं। विज्ञापन से क्योंकि राजस्व मिलता है, अत: उनका लोभ बहुत तीव्र होता है। किंतु अधिक विज्ञापनों से पत्रिकाओं का विषय पक्ष कमजोर पड़ जाता है। इससे पाठक उस पत्रिका से नाता तोड़ने लगते हैं। अत: विज्ञापनों का अनुपात सीमित रखना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि पत्रिका में छपने वाले विज्ञापन पाठ्य सामग्री के संदेश को काटते न हों—ऐसी स्थिति हास्यास्पद हो सकती है। उदाहरण के लिए किसी पत्रिका का गांधी जयंती विशेषांक निकाला जाए और उसमें शराब-सिगरेट का विज्ञापन दिया जाए तो वह हास्यास्पद और नकारात्मक प्रतीत होगा।

मुद्रण (छपाई)

पत्रिका-संपादन की परंपरागत प्रक्रिया में संपादक या उप-संपादक का काम पत्रिका की सामग्री प्रेस में भेजने के बाद समाप्त हो जाता था, किंतु जैसा कि पहले भी आप पढ़ चुके हैं, अब पत्रिका-संपादन एक जटिल कार्य बन चुका है और संपादक का समग्र प्रक्रिया से जुड़े रहना आवश्यक है। अब छपाई भले ही प्रेस में होती है किंतु अधिकांश मध्यम तथा बड़ी पत्रिकाओं की कंपोजिंग या टाइपसेटिंग

पत्रिका के कार्यालय में ही की जाती है। इस प्रक्रिया को डी.टी.पी. यानी डेस्क टॉप प्रिंटिंग कहते हैं। यह सारा काम कंप्यूटर पर होता है।

पहले छपाई की लेटर प्रेस विधि का अधिक प्रचलन था, किंतु अब आफसेट छपाई का प्रचलन बढ़ गया है। रंगीन छपाई की बढ़ती हुई मांगें के संदर्भ में आफसेट मुद्रण टेक्नोलॉजी अधिक उपयुक्त है। छपाई का काम यों तो प्रोडक्शन विभाग द्वारा संभाला जाता है किंतु अब क्योंकि टाइपसेटिंग प्राय: पत्रिका के कार्यालय में ही हो जाती है, अत: संपादक तथा उनके संपादकीय सहयोगियों को कंप्यूटर आपरेशन, अक्षरों के फॉन्ट प्वाइंटों, विभिन्न टाइप प्रणालियों, प्रूफ शोधन के चिह्नों आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। इस जानकारी और समझ के आधार पर उप-संपादक पत्रिका की सामग्री, संयोजन, सज्जा तथा उत्पादन से जुड़ी सभी गतिविधियों का संचालन कुशलता और पूर्ण विश्वास के साथ कर सकता है।

पत्रिका का संपादन संपादकीय से लेकर कला विभाग तक सभी पक्षों के सामूहिक प्रयास से होता है और बढ़िया पत्रिका के प्रकाशन में सभी इकाइयों की समान भागीदारी रहती है। किंतु टीम के नेता के नाते संपादक पर विशेष दायित्व रहता है। उसका नेतृत्व ही सभी इकाइयों को श्रेष्ठ परिणाम देने को प्रेरित करता है। मुद्रण-संबंधी सभी पहलुओं का ज्ञान होने पर ही संपादक पत्रिका को सुंदर, आकर्षक और प्रभावशाली स्वरूप प्रदान कर सकता है।

जनसंचार और हिंदी

मनुष्य के विकास में सूचना और संचार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आज हम विश्व के किसी भी कोने में होने वाली घटनाओं अथवा प्रगति को न केवल तत्काल जान सकते हैं, बल्कि उससे सीख या प्रेरणा लेकर स्वयं भी प्रगति की उस प्रक्रिया को अपना सकते हैं। इसका श्रेय निश्चय ही सूचना-तंत्र या संचार-तंत्र को जाता है।

भाषा संचार की वाहक है। जनसंचार यानी मास कम्यूनिकेशन का अर्थ है—एक ही स्रोत से असंख्य लोगों तक सूचना का प्रसार। यह कार्य भाषा का सहारा लिए बिना संभव नहीं है। जनसंचार माध्यम के रूप में सबसे पहले पत्र-पत्रिकाओं को मान्यता मिली। लिखित अथवा मुद्रित सामग्री के रूप में पत्र-पत्रिकाएं लोगों का मनोरंजन, शिक्षण तथा जागरण करने की भूमिका बखूबी निभाती आई हैं। विश्व-भर में समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। स्पष्ट है कि अनुभूतियों को आंदोलित और संपृक्त करने की इस प्रक्रिया की वाहक भाषा ही बनी। जनसंचार का अगला पड़ाव था—इलेकट्रॉनिक माध्यम यानी रेडियो और टेलीविजन। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रेडियो तथा सदी के मध्य में टेलीविजन के उदय और विकास ने मनोरंजन तथा शिक्षण का समूचा परिदृश्य ही बदल दिया। इसके साथ ही सिनेमा ने छायांकन, कला, संगीत और अभिनय के संगम से मनोरंजन की दुनिया ही बदल दी।

उपग्रह तथा कंप्यूटर ने तो जनसंचार में अभूतपूर्व क्रांति ला दी है और इंटरनेट, एफ.एम. रेडियो, केबल टेलीविजन, सी.डी. आदि प्रविधियों और उपकरणों के आविष्कार एवं प्रयोग ने जनसंचार को परंपरागत विधियों की पगडंडियों से निकालकर एक विस्तृत आकाशमार्ग पर ला खड़ा किया है। यहां से समूची दुनिया एक छोटी-सी बस्ती या ग्राम के आकार की दिखाई देती है और हजारों-लाखों किलोमीटर दूर बैठे व्यक्तियों के समूह से ऐसे संपर्क कर सकते हैं जैसे वे किसी सुदूर स्थान पर नहीं, बल्कि कहीं पड़ोस में ही बैठे हों।

संचार के सभी आधुनिक माध्यमों एवं उपकरणों के आविष्कार में विभिन्न

देशों का योगदान रहा है। कमोबेश सभी देशों की अपनी-अपनी भाषा है और इनमें से कुछ भाषाओं का गौरवमय अतीत रहा है। अतः उन देशों ने जनसंचार माध्यमों में अपनी भाषाओं का प्रयोग किया है। परंतु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी की प्रमुखता होने के कारण अन्य देशों में भी जनसंचार माध्यमों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग निर्बाध रूप से होता रहा है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है।

भारत के संविधान में हिंदी को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया, किंतु व्यावसायिक स्तर पर न केवल शिक्षा, प्रशासन और उद्योग-व्यापार बल्कि सामान्य बोल-चाल तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भी अंग्रेजी का सहज रूप से प्रयोग होता रहा है। ऐसी स्थिति में जनसंचार माध्यम अपवाद नहीं हो सकते। फिर भी जनसंचार माध्यमों में हिंदी की स्थिति कुल मिलाकर संतोषजनक कही जा सकती है। यों भी कह सकते हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी काफी हद तक जनसंचार माध्यमों का आधार बन चुकी है। बल्कि जनसंचार माध्यमों ने संपर्क-भाषा के रूप में हिंदी के विकास में काफी योगदान किया है।

पत्र-पत्रिकाएं

भारत में समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं का चलन आधुनिक शिक्षा-पद्धति लागू होने पर प्रशासन-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से हुआ। 'बंगाल गजट' को भारत का पहला समाचार-पत्र माना जाता है। यह 29 जनवरी 1780 को कोलकाता से प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी के इस समाचार-पत्र के प्रकाशन के साथ भारत में पत्रकारिता का श्रीगणेश तो हो गया, किंतु हिंदी का पहला पत्र लगभग 50 वर्ष बाद 30 मई 1826 को निकला। 'उदंत मार्त्तंड' नाम का यह साप्ताहिक पत्र भी अंग्रेजी अखबार की भांति कोलकाता से निकला। इस प्रकार हिंदी पत्रकारिता का प्रादुर्भाव हिंदी क्षेत्र में नहीं, बल्कि ब्रिटिश शासन की तत्कालीन राजधानी में हुआ। विडंबना यह है कि भारत का पहला हिंदी अखबार लगभग डेढ़ साल ही चल पाया और 11 दिसंबर 1827 को यह बंद हो गया। किंतु इस पत्र के साथ हिंदी पत्रकारिता की जो ज्योति प्रज्वलित हुई, वह न केवल आज तक जल रही है, बल्कि उसने असंख्य अन्य दीप भी जला दिए हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति तक हिंदी पत्रकारिता परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी। इससे पहले वह हिंदीभाषी क्षेत्रों में चल रहे स्वतंत्रता संग्राम का अनिवार्य अंग बनी रही। स्वतंत्रता से पूर्व वास्तव में बहुत-से पत्र मुख्यतया स्वतंत्रता का भाव जागृत एवं पुष्ट करने के लिए ही निकाले गए। शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप जैसे-जैसे पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ने लगी, वैसे-वैसे अंग्रेजी के साथ-साथ

हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में अधिकाधिक अखबार निकलने लगे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक कोलकाता से बाहर वाराणसी, दिल्ली, लखनऊ, आगरा, मुंबई, लाहौर, पटना, कानपुर, इलाहाबाद, बरेली, गुड़गांव, जालंधर आदि स्थानों से पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। इन पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी की लोकप्रियता बढ़ाने के अतिरिक्त समाज में सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय एकता का भाव पैदा करने में काफी योगदान दिया। उस समय की हिंदी पत्रकारिता पूर्णतया रचनात्मक थी और देश के उद्देश्यों के साथ एकाकार थी।

बीसवीं सदी में हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता ने नए आयाम प्राप्त किए और खड़ी बोली ने परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप ग्रहण कर लिया। तब तक दैनिक पत्रों का प्रकाशन भी प्रारंभ हो गया और पत्र-पत्रिकाओं में धर्म, साहित्य, संस्कृति, ज्योतिष आदि विषयों के साथ-साथ राजनीति, समाज-सुधार, समाज-कल्याण, विज्ञान आदि आधुनिक विषयों के समाचारों व विचारों को प्रमुखता मिलने लगी। महात्मा गांधी ने हिंदी के प्रसार को अपने आंदोलन का अंग बनाया जिससे हिंदी को राष्ट्रीय मान्यता मिलने लगी। 1910 तथा 1940 के बीच 'विश्वमित्र', 'आज', 'नवभारत', 'हिंदुस्तान', 'आर्यावर्त', 'विश्वबंधु', 'जागरण' आदि समाचार पत्र अस्तित्व में आए।

स्वतंत्रता के पश्चात हिंदी पत्रकारिता और फली-फूली तथा हिंदी व हिंदीतर प्रदेशों में अनेक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक एवं पाक्षिक पत्र-पत्रिकाएं शुरू हुईं। 1950 से 1970 के 20 वर्ष हिंदी पत्रकारिता का स्वर्णकाल माने जा सकते हैं। इस दौरान 'नवभारत टाइम्स', 'प्रदीप' 'नई दुनिया', 'स्वतंत्र भारत', 'अमर उजाला', 'वीर प्रताप', 'वीर अर्जुन', 'पंजाब केसरी', 'राजस्थान पत्रिका', 'देशबंधु', 'स्वदेश' जैसे बहुत से अखबार निकले और लोकप्रिय हुए। कुछ अखबारों के एक से अधिक संस्करण निकलने लगे। इसी कालखंड में हिंदी में अनेक कुशल एवं प्रतिभाशाली पत्रकारों का उदय हुआ। इनमें से कई पत्रकार हिंदी साहित्य की देन थे। धर्मवीर भारती, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, कमलेश्वर, राजेंद्र अवस्थी, रतनलाल जोशी, अक्षयकुमार जैन, राजेंद्र माथुर, प्रभाष जोशी, कन्हैया लाल नंदन जैसे पत्रकारों का नाम समूची भारतीय पत्रकारिता में आदर से लिया जाता है।

समाचार-पत्रों की भांति पत्रिकाओं—विशेषकर समाचार एवं साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए भी यह समय स्वर्णकाल रहा। 'धर्मयुग', 'दैनिक हिंदुस्तान', 'आजकल', 'कादम्बिनी', 'सारिका', 'दिनमान', 'ब्लिट्ज', 'पांचजन्य', 'रविवार' जैसी पत्रिकाएं अपनी श्रेणी की अंग्रेजी पत्रिकाओं से टक्कर ले सकती थीं। लेकिन 1990 तक आते-आते केबल टी.वी. के पदार्पण के पश्चात फिल्मी पत्रिकाओं,

फैशन पत्रिकाओं, बाल पत्रिकाओं तथा इनी-गिनी चमकदार राजनीतिक पत्रिकाओं को छोड़कर शेष पत्रिकाएं या तो बंद हो गईं या उनकी प्रसार-संख्या कम होती चली गई, जबकि 1970 के दशक के बाद दैनिक समाचार-पत्रों तथा उनके पाठकों की संख्या काफी बढ़ी थी। भारत में 1999 तक कुल 46,655 पत्र-पत्रिकाएं पंजीकृत थीं जिनमें सर्वाधिक 18,903 पत्र-पत्रिकाएं हिंदी की थीं। परंतु अंग्रेजी के अलावा मलयालम तथा बांग्ला आदि कुछ भारतीय भाषाओं के अखबारों की तुलना में हिंदी अखबार प्रसार की संख्या की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार हिंदीभाषी लोगों की संख्या और क्षेत्र के आकार को देखते हुए हिंदी पत्रकारिता की मौजूदा स्थिति कुल मिलाकर संतोषजनक नहीं मानी जा सकती है। शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रसार तथा सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी ज्ञान की अनिवार्यता की स्थिति के चलते हिंदी समाचार-पत्रों को पढ़ने वाले लोगों की संख्या हिंदी प्रदेशों की जनसंख्या तथा साक्षरता-दर के अनुपात में बहुत कम बढ़ रही है।

रेडियो

भारत में रेडियो के माध्यम से प्रसारण पत्रकारिता की शुरुआत यों तो 1924 में ही हो गई थी, किंतु इसे संगठित रूप 1927 में मिला जब 'इंडियन ब्राडकास्टिंग कंपनी' की स्थापना हुई। 1930 में इस पर सरकारी नियंत्रण हो गया। 1936 में इसे 'ऑल इंडिया रेडियो' नाम दिया गया और स्वतंत्रता के बाद 1957 में 'ऑल इंडिया रेडियो' के लिए भारतीय नाम 'आकाशवाणी' अपनाया गया जो आज रेडियो का पर्याय बन गया है।

आकाशवाणी के कार्यक्रमों में हिंदी का प्रारंभ से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उच्चरित शब्द माध्यम होने के बाद इसकी पहुंच निरक्षर तथा सामान्य लोगों तक भी है, अतः इसमें भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी का प्रयोग खुलकर होता रहा है। हिंदी में समाचार, वार्ताएं, नाटक, प्रहसन, फिल्मी गीत, लोकगीत झलकियां, परिचर्चाएं, फिल्मों के साउंडट्रैक, फिल्मों पर आधारित विविध कार्यक्रम, फीचर आदि विधाएं अत्यंत लोकप्रिय रही हैं। आठवें दशक के मध्य तक, जब टेलीविजन अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ था, आकाशवाणी समूचे देश के सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग थी। आकाशवाणी के हिंदी कार्यक्रमों ने उत्तर भारत में हरित क्रांति लाने में अपूर्व सहयोग दिया। हिंदी समाचार सुनकर अहिंदीभाषी लोग हिंदी सीखा करते थे। विविध भारती कार्यक्रम ने हिंदी को भारत-भर की वाचिक भाषा बनाने में योगदान किया।

रेडियो ने, विशेषकर इसके हिंदी कार्यक्रमों ने शिक्षा के प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रेडियो से अहिंदीभाषी लोगों के लिए विधिवत हिंदी-शिक्षण कार्यक्रम प्रसारित किया जाता रहा है। हिंदी के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं में एकता लाने के प्रयासों को भी बल मिला। नाटकों तथा वार्ताओं के अखिल भारतीय कार्यक्रमों में भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाएं हिंदी में प्रसारित की जाती हैं।

आकाशवाणी का हिंदी पत्रकारिता तथा साहित्य से सदैव निकट का संबंध रहा है। हिंदी के अनेक स्वनामधन्य साहित्यकार व पत्रकार आरंभ में सक्रिय रूप से आकाशवाणी से जुड़े रहे। इनमें सुमित्रानंदन पंत, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, नगेंद्र, विष्णु प्रभाकर, मनोहर श्याम जोशी, रघुवीर सहाय, श्यामलाल, रमानाथ अवस्थी, गिरिजा कुमार माथुर और उपेंद्रनाथ अश्क आदि शामिल हैं। यद्यपि टेलीविजन का प्रसार तथा लोकप्रियता बढ़ जाने से आकाशवाणी की लोकप्रियता प्रभावित हुई है, किंतु आज भी आकाशवाणी के अनेक हिंदी कार्यक्रम काफी लोकप्रिय हैं और वे नियमित रूप से सुने जाते हैं। एफ.एम. चैनल शुरू होने के बाद से आकाशवाणी पुनः लोकप्रियता की ओर बढ़ रही है। हिंदी कार्यक्रम आकाशवाणी का मेरुदंड हैं, अतः भविष्य में भी आकाशवाणी में हिंदी का प्रमुख स्थान बना रहेगा।

टेलीविजन

भारत में टेलीविजन का शुभारंभ यों तो 1959 में हो गया था, किंतु इसकी विकास-यात्रा 1972 में प्रारंभ हुई, जब दिल्ली के बाद दूसरा केंद्र मुंबई में चालू हुआ। 1975 में कई अन्य नगरों में भी टेलीविजन केंद्र खुल गए। 1976 में यह आकाशवाणी से अलग होकर दूरदर्शन के नाम से काम करने लगा। टेलीविजन प्रसारण को वास्तविक गति 1982 में मिली, जब राष्ट्रीय प्रसारण तथा रंगीन टेलीविजन अस्तित्व में आए। दूरदर्शन मुख्यतया मनोरंजन का माध्यम रहा है, अतः इसमें फिल्मों और फिल्मी गीतों को काफी महत्त्व मिलता रहा है। नियमित रूप से साहित्यिक कार्यक्रम भी प्रसारित होते रहे, जो बहुत लोकप्रिय थे। 1990 तक टेलीविजन प्रसारण पर दूरदर्शन का एकाधिकार था। इसके हिंदी कार्यक्रम स्तरीय रहे। 1980 के दशक में हिंदी धारावाहिकों—'हम लोग' और 'बुनियाद' ने टेलीविजन को घर-घर में चर्चा का विषय बना दिया। आगे चलकर 'रामायण', 'महाभारत', 'टीपू सुलतान', 'चाणक्य' और 'चंद्रकांता' आदि अन्य अनेक सीरियल देश-भर के लोगों द्वारा पसंद किए गए। विज्ञापनों ने हिंदी कार्यक्रमों की

लोकप्रियता को और बढ़ावा दिया, क्योंकि देश की सर्वाधिक आबादी हिंदीभाषी है और अन्य भाषाओं को बोलने वाले भी हिंदी समझ लेते हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक के मध्य तक समाचारों तथा सामयिक कार्यक्रमों के मामले में दूरदर्शन का एकाधिकार था और हिंदी समाचार काफी लोकप्रिय थे। अनेक वर्षों तक हिंदी फिल्मों के बाद सबसे अधिक देखा जाने वाला कार्यक्रम रात का राष्ट्रीय हिंदी समाचार बुलेटिन रहा। 1991 के बाद जब प्राइवेट चैनलों को प्रसारण की अनुमति मिली तो शुरू में उन्होंने हिंदी की उपेक्षा की, परंतु जल्दी ही उन्हें महसूस हो गया कि हिंदी ही भारत में जनसंचार माध्यमों की वास्तविक भाषा है और सभी चैनलों ने हिंदी धारावाहिक, टाक शो, फिल्मी गीतों के कार्यक्रम, नाटक, परिचर्चाएं आदि दिखाना प्रारंभ कर दिया। यही नहीं, इनमें से अनेक चैनलों से समाचार तथा विचार कार्यक्रम भी प्रसारित होने लगे। स्थिति यह बन गई कि अंग्रेजी समाचारों को लेकर शुरू हुआ स्टार न्यूज चैनल हर घंटे हिंदी में भी समाचार प्रसारित करने लगा। जी न्यूज चैनल से 24 घंटे हिंदी में समाचार और विचार कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। 'आज तक' चैनल तो पूरी तरह हिंदी समाचार को समर्पित है जो 24 घंटे हिंदी में समाचार और विचार कार्यक्रम प्रसारित करता है। चुनाव, क्रिकेट प्रतियोगिताओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर हिंदी में आंखोंदेखा हाल तथा अन्य विशेष कार्यक्रम दिखाए जाते हैं। टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले हिंदी समाचारों की लोकप्रियता के प्रभाव से बहुत से अहिंदीभाषी नेता तथा विशिष्ट व्यक्ति भी अपनी प्रतिक्रिया यानी साउंड बाइट अंग्रेजी की बजाय हिंदी में देना पसंद करने लगे हैं, ताकि उनकी बात अधिकाधिक लोगों तक पहुंच सके। बी.बी.सी. तथा अन्य अनेक विदेशी प्रसारण संगठनों से भी हिंदी समाचार व अन्य अंतरराष्ट्रीय चैनल तथा उपग्रह चैनलों से विदेशों में बसे भारतीयों के लिए विविध प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इस प्रकार भारत में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों में सहज और स्वाभाविक रूप से हिंदी का प्रयोग बढ़ रहा है जो देश की संपर्कभाषा के रूप में हिंदी के विकास का स्पष्ट संकेत है।

सिनेमा

भारत में फिल्मकला ने लगभग 9 दशक पूरे कर लिए हैं और हिंदी फिल्मों, विशेषकर फिल्मी गीतों ने हमारे सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हिंदी फिल्म संगीत ने लोकसंगीत जैसा स्वरूप ग्रहण कर लिया है। यह सही है कि फिल्में समाज,

साहित्य, संगीत, कला तथा नाटकों की भांति प्रतिष्ठा ग्रहण करने में सफल नहीं हुई हैं क्योंकि अधिकांश फिल्में मनोरंजन तथा धनोपार्जन के उद्देश्य से बनती हैं, जिनमें हिंसा और सेक्स का आवश्यकता से अधिक प्रदर्शन किया जाता है। परंतु अपने जन्मकाल से ही भारतीय सिने-जगत धर्म, संस्कृति, कला, संगीत, दर्शन, भक्ति आदि विषयों पर भी श्रेष्ठ एवं रचनात्मक फिल्में प्रदान करता रहा है। हिंदी साहित्य के साथ भारतीय फिल्म उद्योग का संबंध भले ही संतोषजनक नहीं रहा है, लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि हिंदी को देशव्यापी भाषा का रूप देने में हिंदी फिल्मों का ऐतिहासिक योगदान रहा है। फिल्मों में भव्यता और चमक-दमक के साथ-साथ आम लोगों की इच्छाओं, आकांक्षाओं और सपनों को अभिव्यक्त किया जाता है, जिससे हर वर्ग के लोग उन्हें देखने को उत्सुक रहते हैं। फिल्मी गीत तो धार्मिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, राजनीतिक सभी प्रकार के अवसरों पर गाए व बजाए जाते हैं। इन गीतों के अंताक्षरी कार्यक्रमों की अंतरराष्ट्रीय ख्याति ने देश-विदेश में हिंदी की लोकप्रियता बढ़ाई है। सुदूर दक्षिण के कस्बों में रहने वाले अनपढ़ नवयुवक को भी, जो हिंदी का एक शब्द नहीं पढ़ सकता, हिंदी गाने गुनगुनाते हुए सुना जा सकता है।

हिंदी फिल्मों का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि इसने इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों यानी रेडियो और टेलीविजन की बहुत सहायता की है। आकाशवाणी के विविध भारती एवं एफ.एम. कार्यक्रम मुख्यतया फिल्मी गीतों तथा फिल्म आधारित कार्यक्रमों के बल पर चलते हैं। टेलीविजन पर भी हिंदी फिल्में, फिल्मी गीत, फिल्मी सितारों की भेंटवार्ताएं तथा इसी तरह के दूसरे कार्यक्रम दिखाए जाते हैं। अब तो नई फिल्मों के 'प्रोमो' यानी विज्ञापन कार्यक्रम भी सभी चैनलों पर व्यापक रूप से प्रसारित किए जा रहे हैं। इस प्रकार हिंदी सिनेमा तथा अन्य जन-संचार माध्यमों का चोली-दामन का रिश्ता है। हिंदी में फिल्मी पत्रिकाएं भी खूब पढ़ी जाती हैं।

अति आधुनिक माध्यम

संचार के क्षेत्र में क्रांति बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण की सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण देन है। इंटरनेट, कंप्यूटर, उपग्रह संचार जैसी उपलब्धियों के सामने पिछले एक सौ साल की प्रगति फीकी पड़ गई है। परंतु यह भी सत्य है ये नई सेवाएं एक प्रकार से भाषायी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दे रही हैं। उदाहरण के लिए निरंतर लोकप्रिय हो रही सुविधाओं— इंटरनेट, ई-मेल आदि— में मुख्यतया अंग्रेजी भाषा का प्रयोग हो रहा है। यह सही है कि कंप्यूटर में भारतीय भाषाओं और हिंदी के

अनेक साफ्टवेयर बन गए हैं और उसमें हिंदी का प्रयोग हो रहा है, किंतु इंटरनेट केवल अंग्रेजी के माध्यम से काम कर रहा है। ई-मेल भी अंग्रेजी में ही हो रही है। इंटरनेट पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टी.वी. फिल्मी पुस्तकों आदि सभी माध्यमों का संगम है। आगे चलकर अन्य जनसंचार माध्यमों के भी इंटरनेट से जुड़ने की संभावनाएं व्यक्त की जा रही हैं, जिससे हिंदी जैसी भाषाओं के लिए नई चुनौतियां पैदा हो सकती हैं। इन आधुनिक माध्यमों को हिंदी के अनुरूप कैसे बनाया जाए, इस पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

यहां इस तथ्य की ओर संकेत करना समीचीन प्रतीत होता है कि जनसंचार माध्यमों से हिंदी के प्रसार में सहायता मिलने के बावजूद इनमें हिंदी के साथ हो रहा खिलवाड़ निरंतर चिंता का विषय बनता जा रहा है। यह बात टेलीविजन में प्रयोग हो रही हिंदी पर विशेष रूप से लागू होती है। व्यंग्यात्मक तौर पर इस भाषा को 'हिंग्लिश' का नाम दिया जाता है। इसमें अंग्रेजी शब्दों तथा उच्चारण शैली का प्रभुत्व रहता है। पब्लिक स्कूलों से शिक्षित युवक-युवतियों में इस प्रकार की भाषा बोलने की प्रवृत्ति अधिक है। अनेक मंचों पर इस तरह की कृत्रिम भाषा के प्रयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि से हिंदी के स्वरूप पर हो रहे आघात पर चिंता तो व्यक्त की जाती है, किंतु इसकी रोकथाम की दिशा में कुछ नहीं हो रहा है। विद्वानों के एक वर्ग की मान्यता है कि इस स्थिति पर चिंतित होना निरर्थक है क्योंकि आज का समय हिंदी के व्यापक प्रयोग का संधिकाल है, जिसमें अंग्रेजी बोलने वाले लोग हिंदी बोलने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। हिंदी को सर्वस्वीकार्यता की स्थिति प्राप्त करने के लिए इस दौर से गुजरना ही होगा।

कुछ भी हो, इस तरह की स्थिति अधिक समय तक नहीं रहनी चाहिए। हर भाषा का एक परिनिष्ठ रूप होता है और उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा अपनी बात सामने रखने का माध्यम मात्र नहीं होती, बल्कि समाज, संस्कृति तथा राष्ट्र का संस्कार भी होती है। हिंदीभाषी समाज एवं बुद्धिजीवियों का यह दायित्व है कि जनसंचार माध्यम हिंदी को व्यापार की नहीं, संस्कार की भाषा मानकर चलें।

● ● ●